श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः

गोस्वामीश्रीहरिकृष्णशास्त्रिविरचित

श्रीआचार्यविजय

हिन्दी अनुवाद
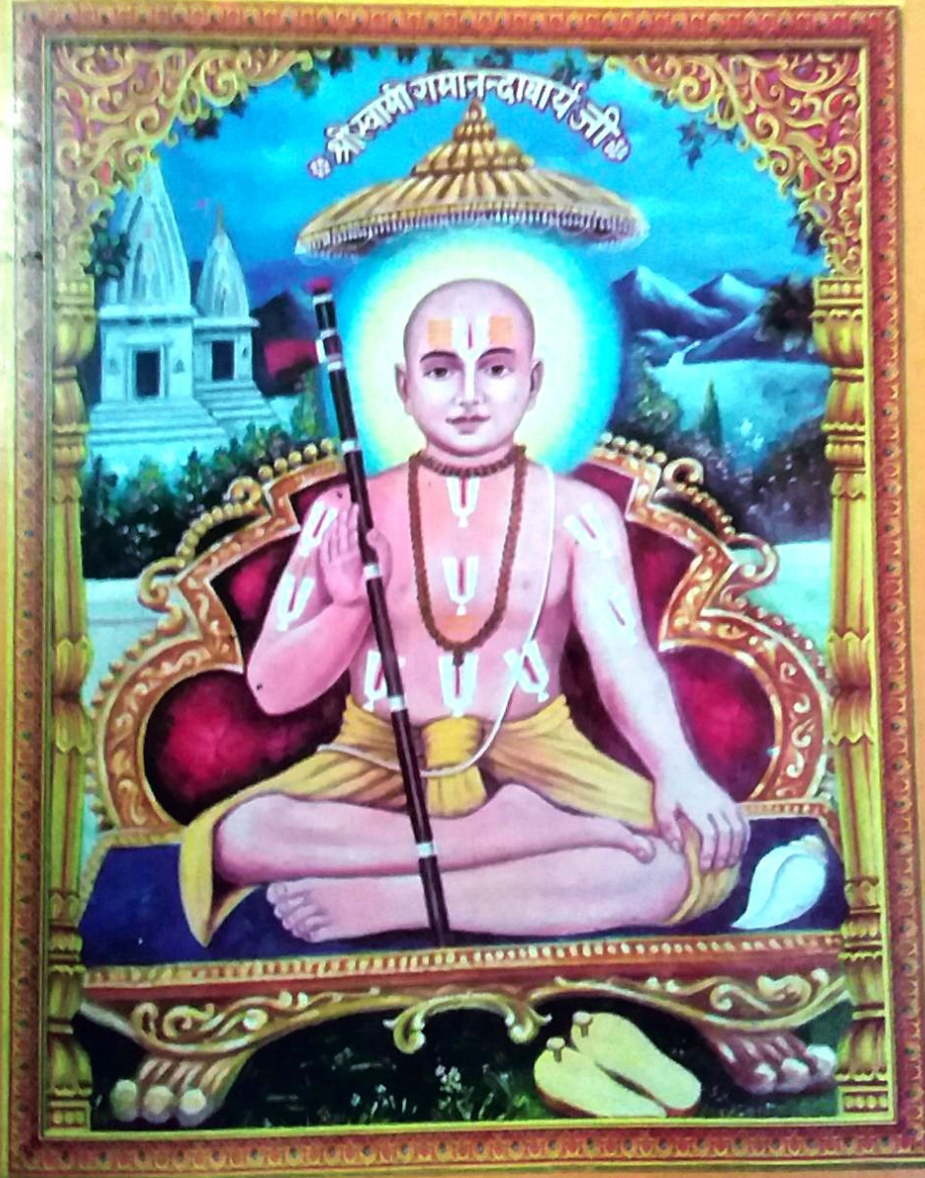
आविर्भूतो महायोगी द्वितीय इव भास्करः।
रामानन्द इति ख्यातो लोकोद्धरणकारणः ।।

प्रकाशक
डॉ. स्वामी राघवाचार्य वेदान्ती
जगद्गुरु अग्रदेवाचार्यपीठ श्रीजानकीनाथ बड़ा मन्दिर, रेवासा (सीकर)

कारण वह भगवान से द्वेष मानता हुआ अपने माता-पिता गुरु एवं ज्येष्ठ पारिवारिक सदस्यों का भी अपमान करने लगता है । अपने को ही सर्वश्रेष्ठ मानता हुआ और वैसा ही आचरण करता हुआ अध:पतन की ओर चला जाता है, कहीं भी उसको सम्मान प्राप्त नहीं होता ।

अत: उक्त दोषों का परित्याग एवं इस प्रकार के दोषों से युक्त लोगों का दु;संग छोड़ने से ही श्रेय एवं प्रेय की प्राप्ति हो सकती है । तभी जीव का कल्याण, संसार में पुनरागमन से मुक्ति एवं परमपद की प्राप्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं । भगवान की शरणागति का शरण्य एवं शरण के विवेक (अर्थपञ्चक) का भली भाँति ज्ञान करके भगवत्स्वरूप में अपनी रूचि एवं भावना को सुदृढ़ करके भक्ति मार्ग में प्रवृत्ति करनी चाहिये तब भगवत् प्राप्ति सुनिश्चित है ।

चौंतीसवाँ परिच्छेद

इस प्रकार भगवद् भजन, कीर्तन एवं उपदेश श्रवण में अनुरक्त वे भगवद् भक्त भगवत् स्वरूप वर्णनामृतपान करते हुये कितने दिन बीत गये इसका अनुमान नहीं कर सके । श्रीरामानन्दाचार्य के दर्शन चरणस्पर्शन एवं पीयूषवर्षिणी वाणी का रसास्वादन करने हेतु सुदूर क्षेत्रों से प्रतिदिन विद्वानों की मण्डली आती रही । नगर की महिलायें एवं राजकुल की रमणियाँ दैनिक सत्संग मण्डल में उपस्थित होकर अपने अन्त:करण को पवित्र बनाती रहीं । इस प्रकार एक पक्ष (पन्द्रह दिन का समय) व्यतीत हो गया ।

धर्मशास्त्रीय मर्यादा के अनुसार संन्यासियों को एक स्थान में अधिक समय तक नहीं ठहरना चाहिये यह विचारकर श्रीरामानन्दाचार्य जी भक्तप्रवर अपने शिष्य श्रीपीपाजी महाराज से मन्द-मन्द मुस्कराते हुये मधुर वाणी से सम्बोधित करते हुये बोले कि अब आगे और यहाँ ठहरने की शास्त्रीय मर्यादा एवं सन्यासी धर्म आज्ञा नहीं देते हैं । अब मैं यहाँ से प्रस्थान कर भगवद्दर्शन हेतु श्री द्वारिकाधाम जाना चाहता हूँ । राजन् ! आप इसी प्रकार समागत भागवत महापुरुषों, विद्वानों एवं महात्माओं की सेवा करते हुये आनन्द एवं उल्लासपूर्वक सम्पूर्ण परिवार एवं परिजनों के साथ भक्ति मार्ग में आगे बढ़ते रहें । भक्ति रसामृत का आनन्द लेते हुये राज्य का संचालन करें । मैं ऐसा तुम्हें हार्दिक आशीष प्रदान करता हूँ और हृदय से तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ ।

भगवान और वैष्णव भक्तों में आपकी भिन्न दृष्टि नहीं होनी चाहिये । मान्यता में भी कम या अधिक का भाव नहीं रखना चाहिये । क्योंकि सन्त एवं महात्माओं ने स्वयं को भगवान के प्रति समर्पित कर दिया है और भगवान के चरणों को निज हृदय में बसा लिया है अत: वे भगवान से भिन्न हैं ही नहीं । बल्कि भगवान से भी अधिक उनका महत्त्व है । क्योंकि भगवान तो सदैव भक्त के आधीन ही रहा करते हैं भगवान ने स्वयं दुर्वासा जी से कहा है-

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥
''नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना ॥''

किञ्च- ''साधवो हृदयं मह्यं-साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत् ते न जानन्ति, नाहं तेभ्यो मनागपि ॥''

मैं भक्तों के पराधीन हूँ मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ सन्तों भक्तों ने मेरे हृदय को पकड़ रखा है अतः मुझे भक्त अत्यन्त प्रिय है । जिन भक्तों का एकमात्र आश्रय मैं हूँ ऐसे साधु भक्तों को छोड़कर मैं तो अपने आपको भी नहीं चाहता हूँ । दुर्वासा जी । मेरे प्रेमी भक्त मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तों का हृदय स्वयं मैं हूँ वे मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते ।

क्योंकि भगवान कभी साधु वेश में भक्त के घर में उसका हार्दिक स्नेह जानने की इच्छा से पदार्पण किया करते हैं । यह बात जीव नहीं जानता कि कब, किस दिन, किस स्थान में और किस रूप में भगवान प्रकट होकर उसकी सेवा ग्रहण करेंगे । अतः सदैव भगवद्भावना से ही सन्तों महात्माओं का सेवन करना चाहिये । उनके प्रति श्रद्धा, विनम्रता एवं अनुराग होना चाहिये । अतः राजन् ! भगवद्भावना से ही सदैव समागत जनों का सम्मान करते हुये उनकी भक्ति में स्नेह रखना चाहिये । जैसे महाराजरन्तिदेव ने स्वयं किया और भगवत्सेवा का अनुभव किया ।

'यत्र पूजापरो विष्णुः, तत्र विघ्नं न चाद्यते ।
राजा च तस्कराश्चैव व्याधिताश्च न कुत्र हि ॥'' (बृहन्नारदीये)
''वैष्णवा विष्णुवत्पूज्या मम मान्या विशेषतः ।'
''तेषां कृतेऽवमाने तु विनाशो जायते ध्रुवम् ॥''
''महाभागवता यत्र वसन्ति विमलाशयाः ।
तद्देशं मङ्गलं प्रोक्तं यथा विष्णुपदं शुभम् ॥''
''वैष्णवं जनमालोक्य नाऽभ्युत्थानं करोति यः ।
प्रणयाऽऽदरतो विप्रः स नरो नरकाऽतिथिः ॥''

अपरञ्च- ''भागवतानां यो लोके चोपहासं नृपोत्तम ।
करोति, तस्य नश्यन्ति, अर्थधर्मयशः सुताः ॥''

जिस घर में भगवान भगवद्भक्त एवं परम वैष्णव पूजे जाते हैं, वहाँ किसी प्रकार का विघ्न नहीं आता वहीं सभी देवता, और सभी तीर्थ निवास करते हैं । वह भक्त का घर भी तीर्थ ही है । वहीं सभी सिद्धियाँ निवास करती हैं । राजा, तस्कर व व्याधि जन्य परेशानी नहीं होती ।

वृहन्नारदीय में सेवा का माहात्म्य इस प्रकार वर्णित है-

भगवान कहते हैं- वैष्णव जन विष्णु भगवान की भाँति ही पूज्य होते हैं और मैं उनको विशेष मान्यता देता हूँ । उनका अपमान करने पर मनुष्य का विनाश निश्चित है ।

जिस-जिस राज्य, नगर अथवा ग्राम में निर्मल भावना वाले वैष्णव रहते हैं, वह देश मंगलमय है वैकुण्ठ के समान है । आये हुये वैष्णव को देखकर जो व्यक्ति उठकर उनका सम्मान नहीं करता, उसके पुण्य नष्ट हो जाते हैं और वह नरकगामी होता है । हे नरश्रेष्ठ ! संसार में जो लोग भगवान् के भक्तों का उपहास करते हैं उनके अर्थ, धर्म, यश और पुत्रादि शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ।

इसलिए हमेशा सावधान होकर रहो, अपने द्वार पर समागत अतिथि को देखकर भोजन के समय उसको पूछे बिना अथवा उसको भोजन कराये बिना जो गृह स्वामी भोजन स्वयं कर लेता है वह नरकगामी होता है विष्ठा के कीड़ों की तरह भोजन करता है अतः सर्वदा प्रमादरहित होकर घर में रहना चाहिए अतिथि ही देवता है यह वेद वचन भी है जहाँ द्वार पर आये अतिथियों का समादर नहीं होता है वह देश, ग्राम, नगर अथवा इन्द्र लोक ही क्यों न हो वह श्मशान तुल्य है ।

कठोपनिषदि च- **''आशा प्रतीक्षे संगतॅं सूनृतां च, इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान् ।**
एतद्वृंक्ते पुरुषस्याल्पमेधसो, यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥''

अतः- **''सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।**
अन्नञ्चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥''

कठोपनिषद में वर्णन आता है-

अर्थात् जिस अल्प बुद्धि वाले गृहस्थ के घर में आया हुआ अग्निरूपी अतिथि बिना अन्नमय हवि के रहता है, जिसका स्वागत अन्न जलादि से नहीं किया जाता, उस गृहस्थ की सभी आशायें, प्रतीक्षायें एवं समस्त शुभ कर्म, पुत्र, पशु

और समृद्धियाँ शीघ्र ही नष्ट हो जाती है । इसलिए अपने द्वार पर आये हुए अतिथि को सर्वप्रथम आसन और जल प्रदान करना चाहिए तत्पश्चात् यथाशक्ति विधिपूर्वक अन्न वस्त्रादि प्रदान करना चाहिए ।

प्रत्येकस्य पृथक्-पृथक् फलम्-

'आसनेन तु दत्तेन प्रीतो भवति देवराट् ।
पादशौचेन पितरः प्रीतिमायान्ति दुर्लभाम् ॥'' हारितस्मृति अ.४-

अतः समागत अतिथि के लिये आसन, पाद्य, शीतल जल एवं अन्न यथाशक्ति सम्मानपूर्वक देकर सदैव उनका सत्कार करना चाहिये । हारीत स्मृति में उल्लेख है-

आसन प्रदान करने से इन्द्र प्रसन्न होते हैं और पाद प्रक्षालनार्थ जल देने से पितरों को प्रसन्नता होती है । अग्निदेव अतिथि स्वागत से प्रसन्न होते हैं । अतः गृहस्थाश्रमी लोगों को अतिथि सत्कार का परित्याग नहीं करना चाहिये ।

''नातः परतरं तीर्थं वैष्णवाङ्घ्रिजलाच्छुभात् ।
तेषां पादोदकं नित्यं गङ्गामपि पुनाति हि ॥''

अन्नदान से प्रजापति तृप्त होते हैं इसलिए गृहस्थ को अतिथि पूजन करना चाहिए । और भी- अतिथि के स्वागत से अग्नि सन्तुष्ट होते हैं अतः गृहस्थ को अतिथि सत्कार नहीं छोड़ना चाहिए अपितु अतिथि के दोनों चरणों को धोकर उनके चरणामृत से अपनी आत्मा को पवित्र करना चाहिए । वैष्णव पादोदक से बढ़कर अन्य किसी तीर्थ का जल पवित्र करने वाला नहीं है, वह तो गंगा को भी पवित्र कर देता है ।

इस वचन से तो अतिथि चरणोदक गंगा से भी पवित्र सिद्ध होता है गंगा को भी पवित्र कर सकता है अर्थात् अतिथि के चरण धोकर परम श्रद्धा से भोजनादि के द्वारा उसे सन्तुष्ट करे तदनु उनकी कृपा एवं उनकी आज्ञा से चरणामृतपानपूर्वक यज्ञोक्षिष्ट प्रसाद को स्वयं ग्रहण करें वह अन्न अतिथि का प्रसाद रूप होता है ।

''रामभक्तानुशेषं तु यो हि भुंक्ते दिने दिने ।
सिक्थे सिक्थे भवेत् पुण्यं चान्द्रायणशताधिकम् ॥''

प्रसाद की महिमा श्रीराम भक्तों के उच्छिष्ट प्रसाद को जो खाता है उसे प्रत्येक ग्रास में चान्द्रायण व्रत का पुण्य प्राप्त होता है, पुन आशीर्वाद- "राजन्, तुम अपने शत्रुओं का मान मर्दन करो, चिरकाल तक पृथिवी का पालन करो तथा अपने पुत्र पौत्रों के साथ आनन्दित रहो, तुम्हारे विरोधी न रहें" से स्वामी जी ने पीपाजी को सन्तुष्ट किया ।

सहसा श्री गुरुचरणों के द्वारिका धाम गमन के प्रस्ताव को सुनकर श्री पीपा जी महाराज इस प्रकार विचलित हो गये जैसे सरस मधुर भोज्य पदार्थ ग्रहण करते हुये मध्य में कोई कटु तीक्ष्ण रस वाले मिर्च आदि मिल जाने पर व्यक्ति उद्विग्न हो जाता है । फूले हुये कमल वन पर जैसे तुषारपात हो गया हो । चिन्तारूपी सर्प से संदष्ट एवं मुर्च्छित होते हुये अवरुद्ध कण्ठ वाले शुष्क तालु वाले जिनके चक्षु अर्ध निमीलित से हो रहे थे चेतना लुप्त होती जा रही थी जड़वत् होते हुये श्री पीपा जी महाराज कुछ भी उत्तर न दे सके । मात्र गुरुचरणों में प्रणाम के बहाने उनका वियोग न सह सकने के कारण भूमि पर गिर गये ।

यह देखकर श्रीरामानन्दाचार्य जी ने अपनी वाणी रूपी सुधा धारा से संजीवनी औषधिमयी उपचार प्रक्रिया के माध्यम से सचेतन बनाते हुये अपने कर स्पर्श से जागरूक कर दिया, एवं सान्त्वना देते हुये धैर्य बँधाते हुये बोले- राजन् ! इस प्रकार अधीर मत बनो । आपने जो आतिथ्य किया गुरु भक्ति निष्ठा प्रस्तुत की, और इससे भी आगे बढ़कर सत्संग के प्रचार-प्रसार द्वारा सार्वजनिक रूप से भक्ति भाव के समुल्लास में, समागत साधुजनों की सेवा में तथा श्री राम जी चरण शरण में प्रवेश दिलाने वाले मन्त्र राज का अहर्निशि महान जप यज्ञ कराने में जो तत्परता एवं उत्साह दिखाया उससे अत्यधिक प्रसन्न एवं भक्ति रस के आह्लाद से सम्पन्न मैं स्वयं यह नही जान पाया कि मुझे रहते हुये यहाँ पन्द्रह दिन का समय व्यतीत हो गया है ।

राजन् ! तुम भी परम भागवत बन गये हो शास्त्रों के तत्त्व से परिचित हो । समस्त संन्यासियों के क्रियाकलापों एवं व्यापारों से परिचित हो, कि संन्यासी को अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र कितने समय तक रहना चाहिये । क्या संन्यासी होते हुये मुझे राज प्रासाद में राजसी वस्तुओं का उपभोग करते हुये उनके रसास्वादन में निमग्न होना स्वधर्मपालन की दृष्टि से उचित है ?

अत: राजन् ! मोहान्धकार के इस कूप में गिरने से अपने को बचाओ । भगवान की इच्छा के अनुसार ही इस संसार में मिलना और बिछुड़ना संयोग और वियोग हुआ करता है इसमें मानव की इच्छा नहीं चला करती । विवेकपूर्वक विचार कीजिये कि भगवान की माया ही सबको विमोहित करने वाली है । उनके सभी कर्म मानव कल्याणकारी हैं । यह सोचकर प्रसन्नतापूर्वक श्री द्वारिकानाथ जी के दर्शनार्थ प्रस्थान करने हेतु अनुमति दीजिये । जिससे यह मेरी यात्रा कल्याणकारिणी हो और भगवत् भक्ति के प्रसाद से परिपुष्ट हो ।

इस प्रकार के गुरुचरणों के अनुरोध को देखकर कुछ भी कहने में असमर्थ, वियोग व्यथा को सहन न कर पाने वाले कँपते हुये शरीर वाले गद्‌गद् वाणी में महाराज पीपा जी ने आचार्य जी से निवेदन किया । भगवन् ! दीन दास के ऊपर आप कृपा करें । आपके चरण कमल रूपी अमृत महौषधि के पान से संजीवित संसार रूपी भँवर में पड़े हुये, सर्वथा अशरण, एकमात्र आपकी ही शरण पर विश्वास रखने वाले लौकिक सन्तापों से संतप्त आपकी चरण शरण से सनाथ होते हुये भी अनाथ की भाँति मुझे अपने से दूर कर पूज्यपाद आप जो प्रस्थान महोत्सव को अकेले ही सम्पन्न करना चाह रहे हैं यही मेरे लिये दु:ख का विषय है । प्रभो ! यह तो बताइये कि अनन्तदया सागर आपके बिना जलविहीन दीन हीन मीन (मछली) की भाँति मैं किस प्रकार जीवन धारण करूँगा । अत: बारम्बार अंजलिबद्ध निवेदन है कि इस दास को भी साथ लेते चलें, ताकि गुरुचरणों की सेवा का अवसर एवं सत्संग लाभ दोनों ही प्राप्त हो सकें । मैं अब श्री चरणों को छोड़कर नहीं रहना चाहता । पुन: इस भवसागर में नहीं गिरना चाहता ।

इस प्रकार पीपा जी महाराज के अत्यधिक दृढ़ आग्रह को देखकर आचार्य जी विचारों के प्रवाह में कुछ विचलित से हुये । क्षण भर मौन रहकर सम्यक् विचार के पश्चात् श्रीरामानन्दाचार्य जी ने पुन: कहा- भगवन् ! कुछ देर और विचार करने के बाद प्रस्थान हेतु विचार करना ।

इस समय सम्पूर्ण राज्य का भार आप पर ही आधारित है । इतने विशाल राज्य का दायित्व जिसके ऊपर हो और वह यदि राज्य का संचालन विधिवत् न कर सके ऐसी स्थिति में राजा स्वयं नरकगामी हुआ करता है ।

क्योंकि अभी आप हमारी तरह के संन्यासी नहीं है जिनके आगे पीछे कोई सुख दुख का अनुभव करने वाला और रोने वाला न हो । आप महाराज हैं, बहु परिग्रहशील हैं, गृहस्थ हैं विशाल परिवार के स्वामी हैं । सभी परिजनों के एकमात्र अवलम्बन है । उन सबको निराधार छोड़कर अचानक आप चलने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ? ये सब आपके बिना कैसे रह सकेगा । यदि हठपूर्वक आप मेरे साथ चलेंगे तो आपकी विरहवेदना से संतप्त हृदय वाली रानियाँ प्रतिक्षण अपनी गर्म साँसों से उच्छ्वास लेती हुई शाप एवं पाप से तुम्हें संतप्त करेंगी ।

आपके चले जाने से तुरन्त ही यहाँ अराजकता का साम्राज्य हो जायेगा । और यह भी है कि आपका समय अभी गृहस्थाश्रम के परित्याग का नहीं वरन् पालन करने का है । समय से पहले कोई कार्य करना कल्याणकारी नहीं होता । जब तक वैराग्य सुपुष्ट न हो जाय, तब तक ऐसा कष्ट नहीं सहन करना चाहिये ।

इस समय इन्द्रलोक के समान आपको संकल्प मात्र से ही सभी सुख के साधन उपलब्ध हैं । सभी देवताओं को आश्चर्य चकित कर देने वाले वैभव विलास मध्य आपके नित्य नैमित्तिक कार्य सम्पन्न हो रहे हैं । अपने लावण्य के विकास एवं विलास से देवांगनाओं को भी लज्जित कर देने वाली सौभाग्यशालिनी रानियों के द्वारा आपके चरणों की सेवा की जा रही है । कामदेव के भी सौन्दर्य दर्प को दलन करने वाला आपका अप्रतिम सौन्दर्य है । कामकला विलास उपयोग के योग्य सभी साधन उपलब्ध होने पर भी आप विपन्न की भाँति हमारा साथी या सहयात्री क्यों बनना चाहते हैं ? राजन् ! सोचिये तो राजभवन के सुखद आसन, सिंहासन और सुखद शय्या तथा झूलों का उपभोग करने वाले, विविध वाहनों सवारियों में सुख सुविधापूर्वक यात्रा करने वाले आप हमारे साथ किस प्रकार पैदल बिना जूतों के चल सकेंगे । और काँटों से बिछे हुये जंगलों के मार्गों में उस कठोर भूमि में तपस्वियों के योग्य सुख सुविधा विहीन कुटीरों मैं कैसे निवास कर सकेंगे । इस प्रकार के गुरुपदेश को सुनकर ।

श्रीपीपा जी ने निर्भीकतापूर्वक निवेदन किया । पुण्य सलिला भगवती भागीरथी के समान शीतल एवं पवित्र उपदेशामृतका पान कर श्रीपीपा जी ने विविध प्रकार की लौकिक बाधाओं को बाधा न मानते हुये कहा-मैं किसी

सांसारिक कार्य व्यापार में प्रवृत्त नहीं हो रहा हूँ अंत: बाधायें मेरे मार्ग को रोक नहीं सकेंगी ।

यह मेरा अलौकिक व्यापार है । अपूर्व धर्म कर्म करना ही मेरा लक्ष्य है । जो सब प्रकार की बाधाओं को दूर करने में समर्थ है । क्षमा सुख एवं शान्ति का घर है । मैं अपने करुणासागर समर्थ गुरु के द्वारा उपदिष्ट भक्तिमार्ग में चल रहा हूँ । श्रीनित्य साकेत बिहारी के चरणों की शरण में हूँ, जहाँ कभी भी किसी भी प्रकार का भय, शोक, क्लेश सम्भव ही नहीं है । 'अभयमेव तत्पदम्' उनका धाम अभय प्रदान करने वाला है ।

कण्टाकीर्ण घनघोर वन पथ में चलने की तो बात ही क्या है उनके चरण शरण में आये हुये भक्तों के लिये श्रीप्रहलाद जी ने यही तो कहा है-

'रामनामजपतां कुतो भयं विश्वतापशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात ! मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥'

श्रीराम नाम का जप करने वालों को भय किस बात का । यह नाम तो संसार के समस्त तापों को शमन करने वाली औषधि है । पिताजी ! देखिये मेरे शरीर में दहकती हुई आग भी मेरे लिये इस समय शीतल जल की तरह प्रतीत हो रही है ।

अत: मैं निवेदन करता हूँ कि गुरुदेव आप शरण्य हैं और मैं शरणागत हूँ । शरणागत भक्त को गुरु चरण भला कैसे छोड़ सकते हैं । अत: प्रपन्न एवं दीन मुझको अपने सेवकों की श्रेणी में प्रवेश देकर अनुगृहीत करें ।

श्रीरामानन्दाचार्य जी ने अनेक लौकिक एवं अलौकिक दृष्टान्तों से सम्बोधित करने के बाद भी जब यह देखा कि पीपा जी महाराज अपने दृढ़ निश्चय से तनिक भी विचलित नहीं हो रहे हैं तब उनको आज्ञा प्रदान करते हुये बोले-कि आप रानियों की भी अनुमति प्राप्त कर लें ।

इस प्रकार की स्वीकृति प्राप्त कर श्रीपीपा जी इतने आनन्दित हुये जैसे निर्धन को अपार धनराशि प्राप्त हो गयी हो । उन्होंने शीघ्र ही अन्त:पुर में प्रवेश कर अपनी सभी रानियों को आदरपूर्वक अपने पास बुलाया । जो रानियाँ चन्द्रमा के समान मुखमण्डल से युक्त, नवयौवन सम्पन्न, सुन्दर हाव भावों से युक्त, सीमन्तिनी जनोचित विलास वैभव से विभूषित, एवं देवांगनाओं

के सौन्दर्य को भी अपने सौन्दर्य से तिरस्कृत करने वाली थीं। श्री पीपाजी महाराज ने स्नेह एवं नम्रतापूर्वक अपने अभिप्राय को प्रकट करते हुये निवेदन किया- देवियों ! मैं अब सांसारिक सम्बन्धों के बन्धनों से मुक्ति चाहता हूँ। श्रीगुरुचरणों की शरणागति के माध्यम से अनन्त करुणा सागर भक्त रक्षक, त्रिभुवन कमनीय कीर्ति श्रीरघुकुल नायक रामचन्द्र जी की शरण में जाना चाहता हूँ, एकमात्र प्रभु की कृपा का ही इच्छुक हूँ। अहन्ता और ममता युक्त माया मोह को अपने पुत्र के ऊपर रखकर अभयपद को प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं आप सब की अनुमति प्राप्त करने के लिये ही आप लोगों के समक्ष उपस्थित हुआ हूँ। अतः आप सभी मुझे गुरुचरणों के साथ जाने की आज्ञा प्रदान करें।

यद्यपि राजकुमार स्वयं बुद्धिमान, प्रज्ञावान, कार्यकुशल एवं समस्त राजनीति विद्याओं में निपुण है। मेरे साथ राज्यकार्य को संभालते हुये उसको पाँच वर्ष हो गये हैं। इस समय भी वह मेरे दाहिने हाथ की तरह समस्त पृथ्वी का पालन कर रहा है। तथा समस्त गुणों से मण्डित एवं नीति विद्या में पारंगत है। अब तक उसने किसी भी अपराधी को दण्ड मुक्त नहीं किया और न ही किसी निरपराध व्यक्ति को दण्डित किया। दुष्पथगामियों को वह अवश्य दण्डित करता है। गुरु एवं शास्त्रवचनों में उसकी श्रद्धा है। अपने कुल गौरव की रक्षा के लिये वह सतत प्रयत्नशील है। बहुत कम शब्दों में वह अपने अभिप्राय को प्रकट करने की क्षमता रखता है। कठोर वाणी के प्रयोग से वह किसी को भी दुखी नहीं करता है।

इस प्रकार के अनेक गुणों से गरिष्ठ और वरिष्ठ अपने विनम्र पुत्र को देखकर तथा शासन करने में उसे सर्वथा सुयोग्य एवं सक्षम समझकर मैं राज्यसिंहासन में युवराज पद में उसको प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ।

तथापि आप सब उसकी मातायें हैं, अतः आप लोग भी समय-समय पर सदुपदेशों से नूतन धर्मनीति एवं राजनीति से उसे सम्बोधित करती रहें। श्री नित्य साकेत विहारी श्रीरामजी आप का कल्याण करें।

श्रीपीपाजी के मुख से पहली बार इस प्रकार के शब्द सुनकर बिजली गिरने जैसी असह्य वेदना सहन करने में अशक्त और राजाजी में अनुरक्त अन्तःपुर की रानियों के नेत्रों से अश्रुओं की बरसात होने लगी।

उनमें से एक रानी सीता जो सबसे छोटी किन्तु गुणों में वरिष्ठ एवं राजा को अत्यन्त प्रिय थी राजा जी की बात सुनते ही मूर्च्छित हो गयी। सभी रानियों की ऐसी करुण क्रन्दन बहुल की स्थिति को देखकर स्वयं महाराज भी क्षण भर के लिय विचलित हो उठे। उनका भी धैर्य जाता रहा। कातरता एवं स्नेह के आवेश से विवेक शून्य होते हुये मूर्च्छित अवस्था को प्राप्त होने लगे। शीघ्र ही उन्होंने भगवत् स्मरण एवं गुरु स्मरण किया और उनके ज्ञानोपदेश के ध्यान से मोह को दूर कर, सावधान होकर अपने दुपट्टे से अपने आँसू पोंछकर पुनः उत्साहित होते हुये बोले।

रानियों! सांसारिक सामान्य महिलाओं की भाँति आप शोक सन्तप्त क्यों हो रही हैं। आप वे क्षत्रिय वंशावतंसभूता क्षत्राणियाँ हैं जो विवाहित होकर गृहप्रवेश करते ही अपने पतिदेव के समक्ष युद्ध की परिस्थिति आ जाने पर उन्हें हर्ष एवं उत्साह के साथ स्वयं अपने कर कमलों से भाल पर तिलक करके और उन्हें कृपाण मण्डित करके वीर रमणियों के योग्य साहस एवं उत्साहपूर्ण वचनों से सम्बोधित करती हुईं बिना किसी संकोच के रणांगण में भेज दिया करती हैं। तदनन्तर शत्रु समूह पर विजय प्राप्त कर लौटने के समय सुवर्ण कलश सजाकर आरती उतारने के लिये उत्सुक रहा करती हैं।

प्रेमियों का हृदय पापशङ्की होता है इस सिद्धान्त के अनुसार यदि दुर्भाग्य से रणांगण में पतिदेव वीरगति को प्राप्त हो जाते हैं तो स्वयं आप लोग भी उनका अनुसरण करती हुईं उत्साह के साथ सती होकर अपनी कीर्ति को समुज्ज्वल किया करती हैं। ऐसी शुद्ध एवं वंशोत्पन्ना क्षत्राणियाँ होकर भी आप इस समय जो यह करुण दृश्य उपस्थित कर रही है, यह आप लोगों के लिये उचित नहीं है। क्षत्रिय वंशजा कामिनियाँ अपने पतियों के लिये शुभाकांक्षिणी हुआ करती हैं।

अतः आप लोगों का इस समय यही कर्त्तव्य है कि मेरे इस शुभ कार्य में सहयोगिनी बनें। आप लोग विवेक दृष्टि से विचार करें कि आज तक मैंने जो भी किया है वह सब आप लोगों के लिये, राजकुमार के लिये किया है। अतः अब मैं भगवच्चरण शरण प्राप्त करने हेतु तत्पर हूँ। स्त्रियों का परम धर्म यही है कि अपने पति की प्रियता एवं हित के लिये अपनी आत्मशक्ति का विकास करें।

अत: सांसारिक मोहपाश एवं मिथ्या माया बन्धन में पड़कर आप लोग शोक मग्न न हों । प्रसन्नतापूर्वक मुझे अनुमति प्रदान कर अनुगृहीत करें ।

इस प्रकार शोक सागर में निमग्न होती हुई भी वे रानियाँ अपनी पति की कुशलकामना के कारण आगे एक शब्द भी नहीं बोल सकीं । तदनन्तर रूप सौभाग्य शालिनी विशिष्ट गुणवती साक्षात् सती स्वरूपा कनिष्ठ रानी जो पति सेवा परायण तथा श्रीराम भक्ति परायणा थी, उस महारानी सीता ने नम्रता पूर्वक निवेदन किया ।

पूजयचरण पतिदेव ! यह हमारा सौभाग्य है कि श्रीचरण सदृश हमें पति प्राप्त हुये हैं । पूज्य चरण आपका जो यह सुन्दर संकल्प है, इसके समान और कोई दूसरा परम उत्तम संकल्प नहीं हो सकता । अत: इस पवित्रतम एवं संसार सागर से उद्धार कर देने वाले मार्ग में हम लोगों को भी प्रवेश करने का सौभाग्य प्राप्त होना चाहिये । जिससे हम आप जैसे परम भागवत पति देव को प्राप्त कर सुलभता से तर जायें । इस प्रकार धर्म तथा कर्म दोनों ही सम्पन्न हो जायेंगे । अत: आपसे प्रार्थना है कि आपके लिये जो रूचिकर हो वहीं करें । किन्तु निज पति सेवा के सौभाग्य से वंचित रह जाने वाली इस चरण सेविका के सम्बन्ध में भी विचार करें ।

पति चरणों की सेवा के बिना मैं जीवन नहीं धारण कर सकती । अत: मैं आपसे पुन: प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरे प्राणनाथ हैं, प्राणों के संरक्षक हैं अत: अपने इस नाम की रक्षा करें । यह मैं भलीभाँति जानती हूँ कि आपके वियोग में ये प्राण इस शरीर में नहीं रह सकेंगे ।

यह सुनकर पीपाजी महाराज अपने शरीर में कम्पन का अनुभव करने लगे । स्तब्ध रह गये उनकी वाणी अवरुद्ध हो गयी । तथापि धैर्य एवं स्थिरता धारण करते हुये बोले-

देवि ! इस प्रकार की हठधर्मिता मत स्वीकार करो । यह साधु मण्डली है । सभी महात्मा स्त्री संग से सर्वथा रहित हैं । एक साथ स्त्री-पुरुष के रहने का अनुमोदन सन्त लोग नहीं कर सकते । उनके साथ आपका चलना कैसे सम्भव है । लोग यह देखकर क्या कल्पना करेंगे, क्या कहेंगे ?

सीतादेवी- स्वामी ! जो साधु एवं सज्जन होते हैं वे तो इन कार्यों की प्रशंसा ही किया करते हैं, किन्तु दुर्जनों की तो बात ही विलक्षण है । दुर्जन तो दुर्जन ही हैं ।

पीपाजी- मार्ग में बहुत से कष्ट हैं, तुम अतीव कोमलांगी हो । क्या उन कष्टों को सह सकोगी ?

सीतादेवी:- मुस्कराती हुई भगवन् ! आपने ही तो कहा है कि विशुद्ध क्षत्राणी स्त्रियाँ कष्ट सहने अथवा प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश करने के लिए हर समय सक्षम हैं आपके साथ तो कष्ट भी सुख से बढ़कर होंगे ।

पीपाजी- मैं तो साधुवेश में रहूँगा, फिर एक राजारानी का और साधु का साथ कैसा ?

सीतादेवी- मैं भी साध्वी वेष स्वीकार करके ही वहाँ रहूँगी ।

ऐसा कहते-कहते शीघ्र ही राजकीय वेषभूषा का परित्याग कर साध्वी रूप धारण कर सती सीता ने महाराज के चरणों में प्रणाम किया ।

इस स्थिति में सीता को देखकर अपने महाराज अवाक् रह गये और दृढ़ निश्चय देखकर अपने साथ चलने की अनुमति प्रदान कर दी । कनिष्ठ (छोटी) रानी के साथ महाराज तीर्थयात्रा करने के लिये साधु मण्डली के साथ प्रस्थान कर रहे हैं, यह समाचार सब जगह फैल गया ।

अगले दिन शुभ मुहूर्त्त में नियमानुसार समस्त राज परिवार के साथ राजोचित साधनों से सम्पन्न सभी मन्त्रिमण्डल से युक्त वे महाराज पीपाजी अब तक राजकुमार पद को सुशोभित करने वाले अपने पुत्र को राज्य सिंहासन में प्रतिष्ठित कर गुरुओं, पुरोहितों एवं विद्वानों के आदेशानुसार विविध तीर्थों से लाये गये पवित्रतम जल से एवं वैदिक मन्त्रोच्चारण के द्वारा अभिषिक्त पवित्रतम उत्तमांग (शिर) को विभूषित कर राजा ने अपने हाथ से अपना राजमुकुट राजकुमार को धारण कराया तथा स्वयं तिलक करके विभूषित किया ।

तदनन्तर सम्पूर्ण प्रजा के समक्ष नवोदित राजा को समुचित राजकीय शासन के अनुरूप अनेक समुपदेशों से उपदिष्ट कर अत्यधिक विनीत राजकुमार को और अधिक विनम्र बनाने हेतु नम्रता का उपदेश दिया । श्रीपीपाजी महाराज गुरुचरणों का आशीष प्राप्त करने के बाद समस्त प्रजाजन की अनुमति प्राप्त करते हुये सभी पूज्य जनों को प्रणाम करते हुये पालित जनों को अपने शुभाशीष से सम्मानित करते हुये एवं सम्मानित लोगों को उनके स्वरूप, आयु एवं ज्ञान के अनुसार पूजते हुये सीतादेवी के साथ पुनः

क्या

कि
के

धु

र

र
ष्ठ
क

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य जी के चरण कमलों में प्रणाम किया । दम्पति युगल साधु एवं साध्वी के वेष में श्री द्वारिका धाम की यात्रा की कामना कर रहे थे । उस समय का दृश्य अतीव करुण था । समस्त राजपरिवार राज दम्पती को राजवेष का परित्याग कर भगवा वस्त्र धारण किये हुये विचित्र वेष में वानप्रस्थ धर्म का आचरण करते देखकर रो पड़ा । उनकी वाणी अवरुद्ध हो गयी । केवल उनकी ओर आँखों से देखते हुये चित्र लिखित की भाँति स्तब्ध रह गये । स्वामी जी के साथ सपत्नीक वह महाराज पीपाजी साधुओं के मध्य वानप्रस्थ की प्रतिमूर्त्ति की भाँति सुशोभित हो रहे थे ।

वहाँ श्री रामानन्दाचार्य श्रीपीपा जी महाराज के राजकीय अतिथि बनकर मानों सदैव के लिये विराजमान हो गये । क्योंकि श्रीपीपा जी महाराज के पुत्र अभिनव महाराज ने अतीव श्रद्धा एवं भक्ति के साथ एक मन्दिर का निर्माण कराकर उसमें श्री स्वामी जी के चरण पादुकाओं की प्रतिष्ठा कर दी । तब से वह स्थान उस समय की आनन्द सीमा के उल्लासमय प्रवाह का संस्मारक वह उपदेश भवन स्थायी रूप से सत्संग भवन के रूप में परिणत हो गया ।

पैंतीसवाँ परिच्छेद

अपनी साधु मण्डली एवं विद्वत् समूह के साथ धीरे-धीरे चलने वाले श्रीरामानन्दाचार्य अद्भुत काषाय वस्त्रों से सुशोभित देव दम्पती के द्वारा सेवित थे । मार्ग में आने वाले प्रत्येक नगर एवं प्रत्येक ग्राम के निवासी लोगों के द्वारा उनकी सेवा की साधन सामग्री एकत्रित की गयी थी । उन उन स्थानों से प्राप्त सामग्रियों को सार्थक बनाते हुये, निरन्तर अपने उपदेशामृत से आये हुये श्रोताओं को सन्तुष्ट करते हुये, नवयुवक एवं नवयुवतियों को स्वधर्म पालन की पद्धति को सिखाते हुये सत्कर्म, कल्याण पथ एवं मुक्ति पथ प्रदर्शित करते हुये पारस्परिक राग द्वेष से उत्पन्न जनता के मलिन हृदयों का प्रक्षालन करते हुये, तीर्थों को सत्तीर्थ बनाते हुये परस्पर भगवद्‌गुणगान, कीर्तन करते हुये तथा स्थान-स्थान पर विश्राम करते हुये आगे बढ़ रहे थे ।

मार्ग के मध्य में जो जो तीर्थ स्थान मिल रहे थे । उनमें शास्त्रानुसार स्नान, पान, सन्ध्यावन्दनादि कर्म करते हुये गुप्त तीर्थों के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुये आचार्य श्री अतीर्थों को भी तीर्थ बना रहे थे । बीच में पड़ने वाली काबेरी, पुष्करिणी इत्यादि महानदियों में स्नानादि विधियों को सम्पादित कर रहे थे दर्शनीय स्थानों को अपनी दृष्टि के द्वारा पवित्र करते हुये भगवान के मन्दिरों में भगवान का दर्शन, निवास, प्रसाद ग्रहण एवं उसका माहात्म्य सुनाते हुये आगे बढ़ रहे थे । क्रमश: वे सब गिरिनार नामक पर्वतराज रैवतक के समीप पहुँच गये ।

श्रीरामानन्दाचार्य जी के आगमन की सूचना वहाँ के तत्कालीन राजा महेन्द्र को प्राप्त हो गयी थी । अत: उन्होंने पहले से ही उनके स्वागत सम्मान एवं निवास तथा विश्राम के लिये सुन्दर सभी सुविधाओं से युक्त विशाल पट मण्डप का निर्माण करा दिया था । गिरिराज के ऊपर पहुँचने के लिये वाहनों एवं मानवों को ढोने वाली पालकियों का प्रबन्ध कर रखा था । रैवतक पर्वत की उपत्यका में स्वागत समारोह के आयोजन हेतु अनेक रंग वाले तोरण द्वारा बनवाये गये थे । ऐसे सभा मण्डप की रचना की गयी थी जिसमें चाँदी और सोने के सूत्रों से बनाई गई बन्दनवार की श्रेणियाँ सुशोभित हो रहीं थी

और मोतियों की मालायें लटक रही थी । अनेक द्वार बनाये गये थे जो दो-दो स्वर्ण कलशों से अलंकृत थे । एवं आम्र, अशोक, कदम्ब, जामुन एवं मौलश्री के हरे और कोमल पल्लवों से सुशोभित तथा कदली के खम्भों से मण्डित थे । कई रंग वाली रेशमी वस्त्रों से निर्मित पताकायें फहरा रही थी । सभा मण्डप के मध्य में अनेक पीठ अधिष्ठित थे, जिनमें सुकोमल बिछौने बिछे हुये थे । पीठों के मध्य में सुन्दर सुवर्ण निर्मित सिंहासन राजोचित मखमली रेशमी वस्त्रों से सुशोभित था तथा सबसे ऊँचा था । इन्द्र के समान वैभवशाली वहाँ के तत्कालीन शासक ने सामने उपस्थित होकर श्री स्वामी रामानन्दाचार्य जी का अभिनन्दन किया । साधु मण्डली से युक्त राजदम्पती के साथ-साथ नागरिकों एवं परिकरों का समुचित सम्मान किया । समस्त उपकरणों एवं साधनों के होते हुये भी नियम एवं अपने सिद्धान्त के अनुसार श्री रामानन्दाचार्य जी ने 'संन्यासी को पैदल ही तीर्थाटन करना चाहिये इस मान्यता के फलस्वरूप राजा एवं जनता के द्वारा अनेकशः प्रार्थना करने पर भी वाहनों का उपयोग न करते हुये पैदल ही पर्वतारोहण सम्पन्न किया ।

आचार्य श्री पर्वत की शोभा का अवलोकन करते हुये रैवतक के ऊपरी भाग में जैसे ही पहुँचे, तत्क्षण भगवत्कृपा से एवं विधि के विधान से वहाँ वसन्त ऋतु का प्रादुर्भाव हो गया । आम्र मंजरियों का रसास्वादन करने वाले मधुर कंठी पुरुष कोकिलों की कुहू कुहू भी मधुर ध्वनि चारों और फैलकर ऋतुपति वसन्त के शुभागमन की सूचना देने लगी ।

श्रीरामानन्दाचार्य के समागम, दर्शन, सत्प्रवचन एवं समालाप आदि के आनन्द प्राप्ति करने की कल्पना से ही सम्पूर्ण उद्यान एवं पर्वतीय जंगल शीघ्र ही फूलों और फलों से सम्पन्न हो गये । मलय पवन के सहयोग से आम्र, मौलश्री, कदम्ब, अशोक, जामुन के नव पल्लव से आन्दोलित होकर मानों परमहंस महात्माओं की मंडली को अपने कर पल्लवों से अपनी ओर आने का संकेत कर रहे थे । सम्पूर्ण वृक्षों की विशाल शाखायें विविध पुष्प गुच्छों के उल्लास से उल्लसित होती हुई मानों कामदेव के सखा वसन्त के साम्राज्य का वैभव प्रदर्शित कर रहीं थी । माधवी लताओं की गोद में क्रीड़न के रसिक पुष्प अपने सौरभ को विखेरते हुये सबको आनन्दित कर रहे थे । कमलों और गुलाबों की लतायें मानों प्रणय के भार से मन्थर होकर अपने शिरों को झुकाकर तथा अपने प्रणयी के स्वागतार्थ वन्दन कर रही थीं ।

श्रीरामानन्दाचार्य के प्रति सम्मान और स्वागत की सूचना दे रहीं थीं। अनेक लतायें भूतल में अपनी मृदुशाखाओं को फैलाकर मानों आचार्य श्री के चरण स्पर्श की कामना कर रही थी। प्रमुदित मृगी झुण्ड एकत्रित होकर आचार्य श्री के मुख कमल की शोभा को अपलक दृष्टि से देखती हुई चञ्चल नेत्र वाली होती हुई भी आज निश्चल दृष्टि वाली बन गयीं थी।

पर्वत के ऊपरी भाग में उगी हुई सरसों अपने पीत पुष्पों के आभरण से सुशोभित होती हुई अपने हजारों कुसुम गुच्छों से अपनी पीले पराग से मानों अतिथियों के चरणों का रंजन कर रही थी। पुष्पों के मकरंद पान से उन्मत्त भ्रमर समूह गन्धर्वों की भाँति मधुर स्वर से श्री रामानन्दाचार्य जी के गुणों का गान कर रहा था। सभी सरोवर अपने भीतर खिले हुये कमल रूपी नेत्रों से मानों आचार्य श्री का दर्शन कर रहे थे। अपने ऊपर बैठे हुए मधु लोभी भ्रमर समूहों के द्वारा किये जा रहे मधुर झंकार रूप कलकलनिनाद से मानों स्वागत गान कर रहे थे।

सुदूर प्रान्तों से तत्काल उड़कर शाखाओं में बैठकर एक वृक्ष से दूसरे वृक्षों का सेवन करता हुआ कोयलों का समूह मधुराति मधुर कर्ण सुखद अपूर्व मनोहर कुहू कुहू इस अक्षरद्वय के समुच्चारण के द्वारा ही लौकिक और अलौकिक आनन्द का समाचार चारों तरफ जड़ जंगम के संगम जन्य सुखानुभव के लिए-कि वसन्त ऋतु के साथ ही चर-अचर वनस्पतियों के प्रमोद प्रफुल्लित सुमन सौभाग्य की वृद्धि के लिए मानव मन के समुल्लास के लिए भगवान् के अनुग्रह विग्रह साधु सन्तों के समागमजन्य सत्संग लाभ के लिए स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी का पदार्पण हुआ है उनके दर्शन एवं सत्संगजन्य आनन्द का सकल चराचर अनुभव करे इस प्रकार राजाओं के बन्दीगणों की तरह घोषणा कर रहा था।

सर्वत्र वन, उपवन और प्रमदा वनों की शोभा से युक्त छोटे-बड़े नगरों ग्रामों जनपदादि में विराजमान सभी प्रकार के वृक्षों, छोटी डाली वाले मुलेठी आदि पौधों एवं श्रेष्ठ लताओं पर विराजमान अनेक प्रकार के नूतन पल्लवों के प्रसून पुञ्जों के मञ्जुल गुच्छों से समलंकृत अनेक वर्णों से रञ्जित कल्पलतानुकारिणी मनोहारिणी पृथिवी तल के शोभा स्वरूप पक्षियों का समूह हर्षोल्लास के कारण मानवों के कर्ण कुहरों में अमृत भरने जैसा मंगलगान के द्वारा मनुष्यों के मन को आनन्दित करता हुआ प्रतीत हो रहा था। अधिक

क्या कहा जाय, पर्वतराज रैवतक ने राजदम्पति से सेवित श्रीरामानन्दाचार्य जी का राजोचित सम्मान किया। वसन्तागमन के साथ-साथ सन्तों और महात्माओं का यह अपूर्व संगम सुरभि सुवर्ण संयोग की भाँति जड़ चेतन के लिये अलौकिक आनन्द को प्रदान कर रहा था।

वहाँ पर्वत की गुफाओं में बहुत से महान तपस्वी जन चिरकाल से तपस्या रत थे। कुछ स्थानों में पद्मासन में स्थित नासाग्र दृष्टिवाले इन्द्रियजित तपस्वी परब्रह्म के ध्यान में लीन थे। कहीं कहीं वैदिक यज्ञाचार्य विविध यज्ञों से सम्बन्धित सामग्रियों को फैलाये हुये पापों एवं दुराचारों से उत्पन्न होने वाले कष्टों को समूल नष्ट करने हेतु विविध कर्मकाण्ड की पद्धतियों का विस्तार किये हुये थे। बहुत से कर्मकाण्डदक्ष पण्डित यज्ञ के अंगभूत गणपति, सर्वतोभद्र, लिंगतोभद्र, ज्योतिर्लिंग, एकादश लिंगतोभद्र, नवग्रह, मातृकायोगिनी, वास्तु मण्डलादि रचनाओं की पटुता प्रदर्शित कर रहे थे। जहाँ प्ररुढ़ दीर्घकालीन तप में अधिष्ठित मुनिगणों की तरह सदा उल्लासित एवं अभिनव पल्लव से समन्वित उद्भूत पुष्प समृद्धि समुज्जृम्भित, रुचिर मधुर सुरभित फल समूहों से झुके हुए डालियों से युक्त कल्प वृक्ष जैसी महिमा मण्डित वृक्षों पर विलास करती हुई अपने मधुराति मधुर कल-कल कूजन से मानवों के मन को उन्मादित करती हुई आम्र वृक्षों पर विराजमान कोयलों के कूजन से वसन्त के उल्लासको प्रकट करती हुई आये हुये दर्शकों के मन को हरण कर रही थी पक्षियों की मण्डली।

चतुर्वेदज्ञ याज्ञिकों के द्वारा हवन विधि से यज्ञ पुरुष की कृपा प्राप्त कर सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति हो रही थी। कहीं-कहीं महर्षियों के आश्रम में आचार परम्परा के अनुसार पढ़े हुये वेदों के अनुस्मरण एवं सस्वर पाठ द्वारा ब्रह्मचारी गण सम्पूर्ण कालुष्य दुरित एवं अनाचार को दूर कर रहे थे। पक्षी गण आये हुए दर्शनार्थियों के मन को मोह रहे थे।

भगवान की आज्ञा से प्रेरणा प्राप्त कर इन्द्र के द्वारा आदेशित विश्वकर्मा ने अद्भुत रचना चातुरी से उस पर्वत की अधित्यका का निर्माण किया था, ऐसा प्रतीत हो रहा था। इन्द्रपुरी के समान वह अधित्यका सुशोभित हो रही थी। जिसमें अनेक कर्मों के पुण्यों के परिणाम स्वरूप सत्कुल समृद्धि वृद्धि सौभाग्य से युक्त होकर अद्भूत वैभव सम्पन्न राजकुल धनिकों के महल, सद्गृहस्थों के घर में समुत्पन्न सर्वविध भोगोपयुक्त साधन

से सम्पन्न, रत्नराशि मण्डित मनुओं की तरह महामहिमाशाली वनमाली भक्ति भावानन्दरसभाजन उल्लास एवं सुखपूर्वक गर्व के साथ देवताओं की तरह दयायुक्त निवास करते थे ।

वहाँ गगनचुम्बी शिखर वाले हंस के आकार वाले सुधा के समान उज्जवल कान्ति वाले चाँदी एवं सुवर्ण जटित दीवारों वाले अनेक राज भवन सुशोभित हैं । जिनके ऊपर सुन्दर सुवर्ण कलश शिखरों पर सुशोभित हैं । अनेक पताकायें ऊपर फहरा रही है मानों वे सभी निवासियों के पाप समूहों को पोंछकर दूर कर रही हों । देवताओं, ब्राह्मणों और समागत अतिथियों की सेवा के लिये उन प्रासादों में सत्कार एवं सम्मान की समुचित व्यवस्था सदैव उपलब्ध रहती है । अपनी शोभा से देवलोक की स्मृति दिलाने वाले सैकड़ों देव मन्दिर हैं । जिनके गर्भ गृह अनेक वाद्यों जैसे भेरी-मृदंग घण्टा शंख घर्घरिका के घोषों से गुंजित हैं देव विग्रहों के समान सुन्दर स्वरूप वाले पुष्पशाली कामजित् विद्वद्वरेण्य वहाँ निवास करते हैं । कुबेर पुत्रों के समान धन वाले लोग एवं समान आयु वाली देवांगनाओं के समान लावण्यवती लीलाधाम ललनायें ललित भाव भंगिमाओं से सभी को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं ।

अनेकों ऐसे महापुरुष जो उस पर्वत की कन्दरा में आदरपूर्वक सिद्धासन पर बैठे हुए योग में प्रसिद्ध आसन और प्राणायामादि योगाओं के अभ्यास से इन्द्रियों और मन की वृत्ति को अपने वश में कर लिया है । निरन्तर दोनों नेत्रों के भ्रुकुटि के मध्य में अपने नेत्रों की दृष्टि से अप्रतिहत गति की आशा करते हैं । कुछ लोग विविध तान्त्रिक क्रियाकलापों से अनेक अद्भूत चरित्र कर रहे हैं दूसरे लोग रात्रि में नक्षत्र विद्या के द्वारा अपने अभिलषित वस्तु की सिद्धि करते हैं विविध वस्तुओं के क्रय एवं विक्रय के कार्य व्यापार में निरत रहने वाले वणिक जन (व्यापारी) सुन्दर पीठों में अधिष्ठित हैं । दूसरी ओर वहाँ ज्योतिर्विज्ञान के महान पण्डित राशि, नक्षत्र ग्रह गोचर गति एवं जन्म लग्न पत्र के निरीक्षण तथा परीक्षण में व्यस्त हैं । गणित प्रक्रिया के माध्यम से मनुष्यों के भाग्योदय आदि योग-अयोग, लाभ, व्यय आदि से सम्बन्धित विविध प्रश्नोत्तरों के फल बताते हुये लोगों से धनार्जन कर रहे हैं ।

कुछ लोग पर्वत से उत्पन्न होने वाले सिन्दूर, हिङ्गुल, हरिताल, मैनशिल गेरु आदि धातुओं को तथा कुछ लोग मणि, माणिक्य, वज्र, विद्रुम, गारुड़ीमणि आदि रत्नों को बेच और खरीद रहे थे । और अपने आभूषणों में अंकित करवा रहे थे ।

इस प्रकार आचार्य श्री पैदल ही पर्वत के ऊपर भ्रमण करते हुये एवं पर्वत राज की शोभा का अवलोकन करते हुये वहाँ के निवासियों किन्नर, नर, सुर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रादि के द्वारा किये गये स्वागत को स्वीकार करते हुये उनकी प्रार्थना एवं श्रद्धा को दृष्टि गत कर जहाँ उन्होंने प्रथम बार पदार्पण किया था वहीं पर्वत के ऊपर अपनी पादुकाओं की स्थापन किया । भक्त जनों के समक्ष साधु, सेवा, सत्संग एवं सन्त समागम आदि विषयों को लेकर अपना पीयूषवर्षी उपदेश भी प्रस्तुत किया । सभी को सन्तुष्ट करते हुये समस्त साधुओं सज्जनों एवं विद्वानों से घिरे हुये आचार्य श्री ने प्रभास आदि क्षेत्रों की यात्रा के लिये प्रस्थान किया ।

उस समय वहाँ के भागवत जन, वैष्णव जन जो आचार्य श्री के वचनामृत पान से सन्तुष्ट एवं पवित्र हुये थे उन्होंने उनके चरणों के प्रतिदिन अनुस्मरण एवं ध्यान के लिये विधिपूर्वक पादुकाओं की प्रतिष्ठा करायी । उस स्मारक को श्री रामानन्द पादुका नाम से आज भी लोग जानते हैं, जो गिरिनार शिखर के ऊपर निर्मित है । वहाँ प्रतिवर्ष 'पादुका स्थापन महोत्सव' नाम से एक वार्षिकोत्सव मनाया जाता है । मेले के रूप में विभिन्न आकर्षक कार्यक्रमों का यह वसन्तोत्सव भी है ।

छत्तीसवाँ परिच्छेद

गिरिनार पर्वत से चलकर यादवों की रणभूमि प्रभास क्षेत्र के दर्शन की कामना से श्रीरामानन्दाचार्य पैदल चलते हुये एवं मार्ग में मिलने वाली साधु मण्डली के साथ सत्संग वार्ता करते हुये श्री रामपद कमल के पराग के लोभी, भक्तिरहस्य पर संवाद के इच्छुक, काम क्रोधादि षड्वर्ग के विजेता, वर्गानुसार आचार परम्परा के जिज्ञासु, कहने के अनुसार आचरण करने वाले, श्रद्धा भावना से युक्त अन्त:करण वाले लोगों को उपदेशामृत का पान कराकर सन्तुष्ट करते हुये आगे बढ़ रहे थे।

मार्ग के मध्य में कुछ विचित्र वेषधारी लोग मिले। किसी का चौड़ा मस्तक सिन्दूर से रंजित था एवं स्फटिक एवं रुद्राक्ष की मालाओं से गर्दन विभूषित थी। मोटे-मोटे ग्यारह रुद्राक्षों की माला से विभूषित भुजदण्ड वाले, भस्मलेप से व्याप्त अंग वाले, काषाय वस्त्र धारण करने वाले, हाथ में खप्पर एवं त्रिशूल धारण करने वाले, कमर में बंधी हुई छोटी घंटियों की ध्वनि से बच्चों का ध्यान आकर्षित करने वाले बहुत से लोग दर्शकों के मन में कुतूहल उत्पन्न कर रहे थे। कुछ तान्त्रिक भी थे, जो अपनी तंत्र विद्या के अहंकार से मतवाले हो रहे थे। अपनी विशाल और लाल-लाल आँखों से लोगों की ओर देखते हुये भय की स्थिति का सृजन कर रहे थे। कभी वे कुत्ता बन जाते थे थोड़ी देर बाद मेढ़ा, क्षणभर में वराह, पुन: सिंह बनकर चलते हुये पथिकों को अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। औघड़ नाम से प्रसिद्ध वे लोग कभी भी चक्रवात कभी झंझावात बनकर सभी पथिकों की आँखों को धूलि धूसरित कर रहे थे। अग्नि का रूप धारण कर सूखे वृक्षों लता गुल्मों को जला रहे थे। मन्त्र का प्रयोग करने वाले उस मायावी ने अपनी माया से निर्मित बनावटी प्रचण्ड अग्निज्वाला के ताप से संतप्त करने के लिये साधुमण्डली सहित श्री रामानन्दाचार्य ज़ी को भी अपने घेरे में ले लिया।

इस प्रकार आचार्य चरण को ज्वालाओं से आवृत देखकर साथ चलने वाले सभी, शिष्य, साधु एवं सज्जन अत्यन्त खिन्न एवं व्याकुल हो गये।

आचार्य श्री ने अपने शिष्यों को दु:खी देखकर भगवन्नाम महानारायण अस्त्र का प्रयोग करते हुये उस मायावी के द्वारा जलाई गई माया रूपी अग्नि को श्रीराममन्त्र युक्त नारायणी विद्या के द्वारा शान्त कर दिया ।

कुछ समय बाद वही मलिन विद्या के विधान में निपुण मायावी यक्षो, राक्षसों, पिशाचों के अद्‌भुत भयंकर स्वरूप दिखाकर लोगों को भयभीत करने लगा । सहसा त्राहि माम् त्राहि माम् बचाओं, रक्षा करो इस प्रकार की आवाज करता हुआ वह मायावी अपने सभी अंगों में महती वेदना के कारण कुछ भी निवेदन करने में असमर्थ होता हुआ, अपने किये हुये दुष्कर्मों का फल भोगता हुआ, मरणासन्न स्थिति में शरणागत होकर बचाने की प्रार्थना करने लगा ।

इस प्रकार उस मायावी के करुणक्रन्दन को सुनकर अपने-अपने स्वभाव के अनुसार निर्णय देने पर एक ओर से आवाज आ रही थी- 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' अर्थात् दुष्टों के साथ दुष्टता का ही व्यवहार करना चाहिये ।

''स्वकृत-दुरितदुःखं, पापपुञ्जोत्थमंहः,
फलमिदमुपभुञ्जन्त्येव दुष्टाः कृतानाम् ।
सकलशुभहितेच्छून् विश्वबन्धूनशत्रून्
प्रतिविहितमहाघः सम्फलत्यात्मनीव ॥१॥

कुछ लोग कह रहे थे- दुष्ट लोग अपने स्वयं के किये हुये पापों एवं दुष्कृत्यों का फल स्वयं ही भोगा करते हैं । जो सभी के प्रति निर्वैर शुभ हिताकांक्षी, विश्वबन्धुत्व की भावना वाले हैं उनके प्रति किया गया अभिचार अपने ऊपर ही पड़ता है ॥१॥

इस प्रकार लोगों के निर्णय के बाद भी करुणा वरुणालय आचार्य श्री के हृदय में उस दुष्ट के प्रति करुणा उत्पन्न हो गयी, और अपराध करने पर भी प्रभु ने उसे क्षमा कर दिया । किन्तु दुष्टात्मा तो दुष्ट ही हुआ करते हैं, उनके प्रति दया दिखाना भी उनके हृदय में निष्ठुरता ही उत्पन्न करती है । इलायची और कस्तूरी से मिश्रित मधुर दूध भी सर्प के मुख में पहुँचकर विष ही बनाता है । स्नेह से पालित होता हुआ भी सर्प काटना नहीं छोड़ता है । इस सिद्धान्त के अनुसार वह दुष्ट तान्त्रिक औघड़ क्षमा कर देने पर भी अपने स्वभाव के अनुसार तन्त्र प्रयोग द्वारा अभिचार प्रयोग करके अपने को छोड़कर सभी की प्राण वायु को अवरुद्ध कर दिया ।

श्रीरामानन्दाचार्य जी के सहचरों की प्राण वायु अचानक अवरुद्ध हो गयी । सभी निर्जीव के समान एक पैर भी आगे चलने में या जीवन धारण करने में असमर्थ से हो गये । शीघ्र ही आचार्य श्री समझ गये कि प्राण वायु का अवरोध उसी दुष्टात्मा के द्वारा किया गया है । उन्होंने शीघ्र ही श्रीराममन्त्र नामक संजीवनी विद्या का प्रयोग करके श्रीवैष्णव तन्त्र तन्त्रित श्रीराममन्त्र से अभिमन्त्रित अपने कमण्डल के जीवन प्रद जल को सभी साधुजनों एवं सहचरों के मुख में सींच दिया उससे शीघ्र ही सभी की अवरुद्ध प्राण वायु सञ्चरित होने लगी और सभी लोग पूर्ववत् स्वस्थ हो गये । श्रीराममन्त्र का अद्‌भुत प्रभाव है । निर्जीव लोगों के मुख में पड़ते ही इस अमृत जल ने उन्हें प्राणदान दे दिये ।

दूसरी ओर उस दुष्ट औघड़ के लिये श्री राममन्त्र प्रयोग दुर्वासा ऋषि के लिये सुदर्शनचक्र की भाँति अत्यन्त दुखद बन गया । उसका किया हुआ दुष्टता का व्यवहार स्वयं उसके लिये घातक बन गया । पुनः करुण विलाप करता हुआ वह कहने लगा-हे करुणा सागर ! मैं आपकी शरण में हूँ, शरणागत की रक्षा कीजिये । आज से अब कभी भी मैं ऐसे दुष्कृत्य नहीं करूँगा । किसी को भी अस्तव्यस्त नहीं करूँगा । महात्माओं के प्रति कोई अपराध नहीं करूँगा । मेरी दुष्टता क्षमा कीजिये । करुणासागर मेरी रक्षा करें ।

इस प्रकार बारम्बार क्षमायाचना करने वाले उस दुष्ट को क्षमा करते हुये उन्होंने स्वस्थ बना दिया । उसी क्षण से वह श्रीस्वामी जी का शिष्य बनकर साधुवृत्ति ग्रहण कर अपने दुर्मन्त्रों के दुष्प्रयोग को सदैव के लिये छोड़ दिया । वैष्णवी दीक्षा ग्रहण कर वैष्णव बन गया ।

इस प्रकार जगह-जगह पर अनेक प्रकार के कौतुक दिखाते हुये, श्रीराममन्त्र के प्रभाव एवं चमत्कार का प्रदर्शन करते हुये, स्वजनों को आनन्दित करते हुये, पथिकों को अपने निष्कंटक वैष्णव मार्ग की ओर आकर्षित करते हुये, अपने अपूर्व उपदेशामृत का वर्णन करते हुये एवं दुष्प्रवृत्तियों एवं दुराचारों को उखाड़ते हुये धीरे-धीरे आचार्य श्री ने प्रभास क्षेत्र की भूमि में पदार्पण किया ।

द्वापर युग के समय का स्मरण कर आचार्य श्री का मन अत्यन्त दुःख से मर गया । आँखों से अश्रुधारा बह निकली । और दुखी मन से

अपने सभी साथ चलने वाले भगवद् भक्तजनों को सम्बोधित करते हुये बोले- आप सभी सावधान होकर सुनें- यह वह प्रयास क्षेत्र है जहाँ साक्षात् जगन्नियन्ता पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के वंशजों (पुत्र, नाती, पनाती एवं बन्धु बान्धव) ने अपनी मर्यादा का परित्याग कर एवं शास्त्राज्ञा का उल्लंघन कर उच्छृंखल व्यवहार एवं आचरण के द्वारा लोकमान्य, विश्ववन्द्य महर्षियों की अवहेलना की थी, एवं कुमार्गगामी बन गये थे । महर्षियों के शाप से ही वे मदिरापान से उन्मत्त होकर युद्ध करते हुये नष्ट एवं भ्रष्ट बुद्धि वाले, मर्यादाविहीन, ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठजनों की उपेक्षा करने वाले अपने लोगों का भी तिरस्कार करने वाले, अपने आपको ही सर्वश्रेष्ठ एवं वरिष्ठ मानने वाले परस्पर अपशब्दों एवं गालियों का प्रयोग करते हुये एक दूसरे के ऊपर प्रहार करते हुये परस्पर शत्रुता बढ़ाते हुये अपने बड़ों बूढ़ों की हितकारी बातों की भी अवहेलना करते हुये महर्षियों के शाप से नष्ट हो गये थे । वारुणी पान के कारण महान् महान् सेनापतियों की भी सुबुद्धि कुबुद्धि में परिणत हो गयी, और यहीं एक दूसरे से लड़ते हुये विनष्ट हो गये । यह वही यादवों की भूमि है ।

बन्धुओं ! इस भूमि को बारम्बार प्रणाम करो । और सोचो कि दुर्व्यसनों में आसक्ति रखने वाला व्यक्ति चाहे साक्षात् भगवान के अंश से ही उत्पन्न क्यों न हो, वह भी सुखपूर्वक नहीं सो सकता, बहुत दिनों तक ठहर नहीं सकता । अत: ऐसे प्रकरणों से शिक्षा ग्रहण कीजिये कि सम्पूर्ण लोकों की सम्पत्ति प्राप्त हो जाय, तब भी कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये । अहंकार ग्रस्त नहीं होना चाहिये गुरुजनों, पूज्य व्यक्तियों, मुनियों एवं महात्माओं का उपहास नहीं करना चाहिये । मर्यादा, धर्म एवं शास्त्र के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिये । क्या खाने योग्य है क्या नहीं । क्या पीने योग्य है, क्या नहीं ? इस पर अवश्य विचार करना चाहिये । मद्य आदि का सेवन नहीं करना चाहिये, एवं अपशब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये । अन्यथा कुमार्गगामी एवं दुराचारी जनों का ऐसा ही परिणाम होता है जैसा कि यादवों का हुआ था । महान से महान यहाँ तक कि साक्षात् भगवद् अंश से उत्पन्न व्यक्ति भी कभी दुर्दशा से बच नहीं सकते ।

कुछ दूर जाकर सामने आने वाले श्री सोमनाथ मन्दिर के शिखर को देखकर उन्हें (आचार्य ज़ी को) ऐसी अनुभूति हुई मानों दुर्दान्त दानवी प्रवृत्ति

वाले यवन महमूद गजनवी के सैकड़ों गदा प्रहारों से यह मन्दिर अपने सम्पूर्ण अंगों में वेदना का अनुभव आज भी कर रहा है । इसका शिर भग्न कर दिया गया है । चारों और टूटे हुये अवयव बिखरे हुये हैं । चारों ओर से इसकी त्वचा रूपी कवच छिन्न-भिन्न हो गया है । सम्पत्ति रूपी लता का पूर्णरूपेण लुंचन हो चुका है । अमित स्वर्णमयी वस्तुएँ लुट चुकी हैं अगणित कुलांगनाओं के लज्जारूपी आभूषण उतार दिये गये हैं । समस्त लोकाधिपति श्रीसोमनाथ की विखण्डिता मूर्त्ति की दुर्दशा एवं विपत्ति का वर्णन करने के लिये ही मानों यह मन्दिर अपनी मौन-मूक चेष्टाओं से मात्र अश्रुवर्णन करता हुआ सभी दर्शनार्थियों के अन्त:करण में करुणा उत्पन्न करना चाहता है । अपने स्वामी श्रीसोमनाथ की वियोग वेदना से व्यथित यह मन्दिर हम सभी को आलस्य प्रमाद, कायरता एवं महामोह भी निंद्रा तोड़कर आगे आने का आह्वान सा कर रहा है ।

सहसा श्रीरामानन्दाचार्य जी के हृदय में दु:ख के साथ-साथ महान क्रोध उत्पन्न हो गया और वे शीघ्र ही किसी एक टूटने से बची हुई मन्दिर कीं उच्च शिला पर खड़े होकर सिंह के समान गर्जना करते हुये वहाँ उपस्थित धार्मिक लोगों, समस्त धर्म प्राण पुजारियों एवं देश-देशान्तर से आये हुये श्रंद्धालु यात्रियों को सम्बोधित करते हुये उनके भीतर प्रेरणा एवं उत्तेजना उत्पन्न करतु हुये बोले-

अपने इष्टदेव श्रीसोमनाथ जी की महामूर्ति के टूट जाने पर भी क्या आप लोगों की महामोह एवं अज्ञान जन्य आलस्य एवं प्रमाद की यह घोर निद्रा अब भी नहीं टूटी ? अरे ! आप लोगों की कायरता की यह पराकाष्ठा है -क्या यही आप लोगों के जीवित रहने का प्रमाण है ? कि आप सबके जीवित रहते हुये भी और आप लोगों के सामने ही आपके इष्टदेव की मूर्ति तोड़ डाली गयी । मन्दिर धूल में मिला दिये गये । अबलाओं के लज्जारूपी आभूषण लूट लिये गये । सभी देव सम्पत्तियाँ छीनकर ले जायी गयी । और तबसे निरन्तर देवताओं की मूर्त्तियाँ विखण्डित की जा रही हैं, किन्तु आप लोग अकर्मण्य बनकर नपुंसक बनकर भयभीत होकर पलायन कर रहे हैं । क्या यही आपकी धर्मनिष्ठा है ? यही आपका पौरुष एवं वीरता है ? यही आपका शौर्य एवं उत्साह है ?

ये घटनायें एक ही बार या किसी एक ही स्थान पर नहीं घटित हुई वरन् प्रतिदिन इनकी पुनरावृत्तियाँ हो रही हैं । श्री सोमनाथ जी के ही ऊपर कितने आक्रमण हो चुके हैं क्या आपने नहीं देखा, नहीं सुना ? फिर भी आप लोगों की प्रमाद एवं मोह की निद्रा अभी नहीं टूटी है । वरन् और अधिक प्रगाढ़ हो गयी है । क्या वीरता लुप्त हो गयी ? शौर्य सो गया ? स्वाभिमान चला गया ? आप अपने गौरव का स्मरण क्यों नहीं कर रहे हैं । अपने कुल की प्रतिष्ठा का स्मरण आपको क्यों नहीं आ रहा है ? आप अपने उत्साह का आवाहन क्यों नहीं कर रहे हैं । वह सूक्ति कैसे भूल गई ?

क्व गता सा- **''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपिगरीयसी ।**
धर्मः स्वनुष्ठितो, देवः समुपास्यः सुधामयः ॥'' इति सूक्तिः ?

सनातन धर्मावलम्बी समस्त हिन्दु समाज !

अपनी जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर हैं । धर्म ही अपना देवता है जो अमृतमय है, और जिसकी उपासना अनिवार्य है ।

क्योंकि 'यतो धर्मस्ततो जयः' के अनुसार सनातनधर्मियों को अपने धर्म, कर्म एवं इष्टदेव स्वरूप मूर्त्तियों, गायों, ब्राह्मणों, शास्त्र पुराणों देव मन्दिरों और अपनी संस्कृतियों की रक्षा के लिये प्राणपण से प्रयत्न करना चाहिये । अपनी विलुप्त शक्ति का पुनः जागरण करना चाहिये । अपने में आत्मबल अर्जित करना चाहिये । उन्नति पथ पर आगे बढ़ना चाहिये । उनकी उस पुरातन बीज का लोप नहीं हुआ है । आप लोग भी अभी मान्धाता और युधिष्ठिर आदि के ही समान हैं । अतः पारस्परिक वैमनस्य छोड़कर, व्यर्थ की निम्न-उच्च की भावना को दूरकर, द्वैतभाव का परित्याग कर, एकता के सूत्र में बँधकर पुनः सदैव विजय दिलाने वाली धर्मरूपी ध्वजा को ऊँचे फहराइये । अपने विजय शंख नाद से दिशाओं को गुँजाइये । वीर विक्रम के अवतार बनकर एवं दृढ़ प्रतिज्ञ बनकर अधर्म की सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिये आगे आइए । सनातन धर्म के ध्वंसकों की नीति को जड़ से समाप्त कर दीजिये । विदेशी सत्ता को समूल नष्ट कर दीजिये । अब आप सभी पुनः अपने उत्साह को जाग्रत करते हुये अपने पौरुष को प्रकाशित करें । अपने गौरव प्रतिष्ठा एवं कीर्ति को पुनः प्रतिष्ठित करें ।

इस प्रकार की श्रीरामानन्दाचार्यजी की जीवन संचारिणी उत्साह एवं शक्ति प्रदायिनी, मनस्वियों के लिये अतीव मनोहारिणी, अधीर जनों को धैर्य प्रदायिनी और अकर्मण्य लोगों में कर्मठता स्थापिनी गर्जना को सुनकर सौराष्ट्र देशवासियों में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हो गयी ।

सौराष्ट्रवासी नवयुवक एवं नवयुवतियाँ वीरव्रत धारण कर स्वधर्म एवं स्वसंस्कृति की रक्षा के लिये तथा आगे भी इस परम्परा को बनाये रखने के लिये तत्काल कृतसंकल्प हो गये । वहाँ के राजा भी आचार्य श्री के चरणों की शरण में आ गये, और सनातन धर्म की रक्षा को ही राजधर्म मानकर धर्मोद्धार हेतु निर्देशानुसार प्रयत्नशील हो गये ।

आचार्य चरण ने निवेदन किया- हमारे भीतर जो दुष्टता है, पारस्परिक भेद बुद्धि है, और भयंकर द्वेष की भावना है, किये हुये अपकार के प्रति प्रतिशोध की भावना है, उसी का यह दुष्परिणाम है । कोई किसी की सहायता करने को उद्यत नहीं होता, और न ही सब लोग मिलकर विधर्मियों के साथ लड़ने को तैयार होते हैं । बल्कि इसके विपरीत शत्रु के हाथ में पड़े हुये अपने बन्धु बान्धवों को देखकर भी द्वेष की अग्नि में हमारी करुणा जल जाती है । प्रबल ईर्ष्या से विकृत अन्तः करण वाले हम लोग अपने ही लोगों की उपेक्षा कर देते हैं । 'अब हम वैसा आचरण नहीं करेंगे' यह प्रतिज्ञा आपके समक्ष कर रहे हैं । इस प्रकार वहाँ की जनता ने आचार्य श्री को वचन दिया एवं आश्वस्त किया ।

सैंतीसवाँ परिच्छेद

प्रभास क्षेत्र की तात्कालीन स्थिति का विवेचन करने के बाद करुणार्द्र हृदय श्रीरामानन्दाचार्य जी ने देश, काल, परिस्थिति के अनुसार सनातन धर्मावलम्बियों को पुनः सम्बोधित करते हुये कहा- अपने धर्म पर कुठाराघात को रोकने के लिये पारस्परिक द्वेष, मात्सर्य एवं ईर्ष्या की प्रवृत्ति को आप लोग अपने भीतर से सदा के लिये उखाड़ फेंके । अपने धर्म की देव प्रतिमाओं एवं देवमन्दिरों की, सतीधर्म एवं कुलवधुओं की लज्जा (मर्यादा) के संरक्षण हेतु दृढ़ प्रतिज्ञ बनें । इन सभी के प्रति सदैव जागरूक रहें । यह उपदेश देकर आचार्य चरण द्वारिकाधाम की यात्रा के लिये चल पड़े । जैसे-जैसे आचार्य श्री धाम की ओर आगे बढ़ रहे थे- वैसे-वैसे ही चारों ओर से नर-नारियाँ उनके साथ सुखद समागम सत्संग का सुनहला अवसर समझकर श्री द्वारिकाधाम की यात्रा के लिये एकत्रित होते गये । अब श्रीरामानन्दाचार्य जी के अनुयायी जनों की मण्डली एक महामण्डली बन गई । जैसे गंगा के प्रवाह में अनेक पर्वतीय नदियों के समागम से बहुत बड़ा जल का प्रवाह उमड़ पड़ा हो ।

मार्ग में मिलने वाले विपक्षी विद्वानों के साथ सनातन धर्म विषयक विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना में समस्त वेदों के उद्धरण प्रस्तुत करते हुये वर्जनीय मायिक लौकिक गुणों से रहित ज्ञान वैराग्य युक्त सच्चिदानन्दमय दया उदारता भक्तवत्सलता आदि अनन्त गुणों के माहात्म्य से युक्त संसार के कर्त्तृत्वादि सद्गुणों से मण्डित चिदचिद् विशिष्ट परब्रह्म का प्रतिपादन करने वाला शास्त्रार्थ करते हुये अनेक प्रकार की जड़ता से जड़ीभूत एवं अज्ञान रूपी अन्धकार से आच्छादित लोगों के हृदय में ज्ञान ज्योति द्वारा दिव्य ज्ञान का प्रकाश करते हुये भगवत् स्वरूप को प्रकाशित करते हुये और उनकी मानसिक दुर्भावना तथा लौकिक उपभोगों में आसक्ति की प्रवृत्ति को दूर करते हुये समस्त विद्वद्मण्डली से घिरे हुये देवगुरु बृहस्पति के समान श्रीरामानन्दाचार्य जी लग रहे थे । ऐसा प्रतीत होता था, मानो । श्रीकृष्ण की नख चन्द्र चन्द्रिका हेतु चकोर बने हुये दर्शनार्थी पृथ्वी लोक, स्वर्गलोक एवं

नागलोक से आकर वहाँ एकत्रित हो गये थे । जय जय का उद्घोष करते हुये मैं पहले मैं पहले की भावना से आचार्य श्री के दर्शनार्थ उत्सुकता दिखा रहे थे ।

इस प्रकार सनातन धर्म की पताका को फहराते हुये एवं प्रचण्ड पाखण्ड का उन्मूलन करते हुये अपने मनोरथों की पूर्ति करने वाले निष्काम भक्तों की कामना करने वाले मुक्तिदायक धाम द्वारिकाधाम में श्री रामानन्दाचार्य जी पहुँच गये ।

जैसे ही स्वामी रामानन्दाचार्य जी के वहाँ पधारने का समाचार वायुमण्डल में प्रसारित हुआ, वैसे ही समस्त सौराष्ट्र देश निवासी नवयुवकों, नवयुवतियों बालकों, वृद्धों, ज्ञान और भक्ति से युक्त सन्तों, महापुरुषों तथा सिद्धों का वहाँ बहुत बड़ा मेला सा लग गया जैसे महान पर्वों में समुद्र स्नान एवं भगवद् दर्शन के लिये जनसमूह उमड़ पड़ता है । क्रमशः वहाँ द्वारिकाधाम में स्थित पवित्रतम जलाशयों में अथवा श्रीगोमतीजी में विधिपूर्वक स्नान, सन्ध्यावन्दन, देवर्षि पितृतर्पण भगवद्स्मरण आदि करने के बाद श्री द्वारिकाधीश मन्दिर पहुँचकर आठ पटरानियों से परिवृत श्री द्वारिकाधीश की नियमानुसार लायी गयी पूजन सामग्री गन्ध, कुंकुम, केशर, कर्पूर, इलायची, लौंग, पान, सुपारी, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, वस्त्र, आभूषण माला आदि उपलब्ध उपचारों से महाराजोचित उपकरणों से पूजन, प्रार्थना, वन्दना आदि के पश्चात् महा आरती कर्पूर आरती एवं सौ बत्तियों वाली आरती से नीराजन किया ।

मन्दिर के बाह्य भाग में सभाकार्य हेतु एक सभा मण्डप का निर्माण किया गया था, जहाँ सभी प्रकार के आसन सिंहासन एवं सुन्दर कुर्सियाँ हजारों की संख्या में सुशोभित हो रही थीं । मध्य में बहुत बड़ा एवं ऊँचा चाँदी की पर्वत शिखर के समान एक उच्च पीठ सुशोभित था । उसके चारों ओर नव पल्लवों की मालाओं से युक्त, अनेक पुष्पों की मालाओं से अलंकृत, सुन्दर कदली स्तम्भ मण्डित महापट मण्डप में भगवान के पूजन विधान से निवृत्त होकर श्री रामानन्दाचार्य जी सभाकार्य हेतु पधारे । सुदूर क्षेत्रों से आये हुये दर्शकों एवं वहाँ के उपस्थित लोगों के द्वारा आवाहित श्री रामानन्दाचार्य जब सिंहासन पर विराजमान हो गये तब परम्परा के अनुसार क्रमशः एक-एक व्यक्ति आचार्य श्री को प्रणाम करने के साथ-साथ

यथाविधि सुगन्धित द्रव्यों, मालाओं एवं वस्त्रों से श्रद्धा भक्ति एवं सम्मानपूर्वक उनकी पूजा उसी प्रकार की जैसे देवगण अपने गुरु बृहस्पति जी की पूजा किया करते हैं ।

तदनन्तर श्री रामानन्दाचार्य जी ने भगवद् भक्तों एवं सभी वैष्णवों को अपने शुभाशीष से अभिनन्दित कर पीयूष वर्षी प्रवचन निर्झर से उनके अन्त:करण को रसाप्लावित किया ।

परम् भागवत ! भगवच्चरणारविन्द मरकन्द मधुकर ! सरलता सुशीलता एवं सज्जनता की मूर्तियों !

आप लोग विचार करें कि हम सब कितने भाग्यशाली हैं जो कि अगणित पावन पुण्य रजकणों से युक्त इस परम पूज्य भूमि में जो भगवान की सप्त पुरियों में से एक श्रेष्ठ पुरी द्वारिका पुरी है समस्त पृथ्वी की अलंकार स्वरूपा, परम पवित्र एवं विश्वकर्मा की वास्तुकला का श्रेष्ठ निदर्शन होने के साथ ही श्रीकृष्ण भगवान के श्री विग्रह से उत्पन्न हो, उसके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त कर हम अपने जीवन को सफल बना रहे हैं और मोक्ष को शीघ्र ही हस्तगत कर कृतार्थ हो रहे हैं । शास्त्रों में इसका महत्त्व प्रतिपादित किया गया है-

''**द्वारकां नगरीं दृष्ट्वा नरो नारायणो भवेत् ।**'' इति (श्रीगर्गसंहितायाम-)

द्वारिकानगरी का दर्शन करने मात्र से ही नर नारायण स्वरूप हो जाता है ।'

''**गोमतीतीरजं पुण्यं रजो यो धारयेन्नरः ।**
शतजन्मकृतात्वपापान् मुच्यते नात्र संशयः ॥

(यत्र च गोमतीतीर्थमस्ति)

जहाँ गोमती साक्षात् तीर्थ है- गोमती तट की पवित्र रज (धूलि) को जो व्यक्ति धारण करता है वह अपने पहले के सैकड़ों जन्मों में किये हुये पापों से मुक्त हो जाता है ।

क्योंकि- तीर्थ यात्रा का फल एवं पुण्य यज्ञ फल से भी अधिक कहा गया है ।

महाभारत में कहा गया है कि भूमिका अद्‌भूत प्रभाव, जल का दिव्य तेज, मुनियों का संग्रह इन्हीं कारणों से तीर्थो का पुण्य एवं महत्त्व अधिक है । जैसे शरीर के कुछ अंगों को विशेष पवित्र माना गया है । वैसे ही पृथ्वी के कुछ भूभाग भी अधिक पवित्र हैं ।

अत: हम सब धन्य ही नहीं धन्यतम हैं जो कि पवित्रतम भगवद्धाम में आ गये हैं जो मानवदेहधारी पवित्रात्मा हैं, जो सदैव नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से पवित्र बन चुके हैं, जो अपूर्व फल की प्राप्ति करना चाहते हैं, जो भगवच्चरणारविन्द के मकरन्द का सेवन कर रहे हैं, ऐसे कल्याण आकांक्षी जनों को तीर्थ सेवन अवश्य करना चाहिये ।

किन्तु तीर्थयात्रा में भी श्रद्धा की ही विशेषता है । जो जिस प्रकार की श्रद्धा से तीर्थ का सेवन करता है तदनुसार ही उसको सफलता प्राप्त हुआ करती है । जैसे हम लोग प्रात: स्नान के समय जहाँ कहीं भी सरोवर, नदी, महानदी, कूप, वावली अथवा घर में ही किसी भी पात्र में भरे हुये जल से स्नान के लिये उद्यत होते हैं । उस समय गंगा स्नान के समान पवित्रता एवं पुण्य प्राप्ति हेतु भगवती भागीरथी का स्मरण दूर से ही कर लेते हैं । हमारी स्मृति में जैसे ही गंगा जी आती हैं, वैसे ही वह सम्पूर्ण जल उतना ही पवित्र एवं पुण्यप्रद हो जाता है, उसी प्रकार तीर्थ स्थान भी है ।

यथा हि- **गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद् योजनानां शतैरपि ।**
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति । एवमेव हि-

सैकड़ों योजनों की दूरी से भी जो गंगा का नाम लेकर स्मरण करता है उसके सभी पाप दूर हो जाते हैं और वह विष्णु-लोक को प्राप्त कर लेता है । किन्तु यह सब श्रद्धा पर निर्भर है । केवल वाणी मात्र से उच्चारण करने से ही इस प्रकार की सिद्धि प्राप्त नहीं होती । उस वासना एवं श्रद्धा से आवाहित भगवती भागीरथी उस जल को पवित्र गंगा जल बना देती है । इसी प्रकार तीर्थ भी श्रद्धा विशेष के साथ सेवन किये जाने पर ही मनुष्य को पवित्र करते हैं, अन्यथा की स्थिति में नहीं ।

शास्त्रों में तीन प्रकार के तीर्थ बतलाये गये हैं ।

(१) जंगमतीर्थ- चलते फिरते तीर्थ अर्थात् साधु-महात्मओं एवं विद्वानों का सत्संग तथा उपदेश श्रोताओं के मन को पवित्र करता है । अत:

मनः श्रुद्धि होने पर ही स्थावर (एक देश में स्थित तीर्थ) तीर्थों की शुद्धि होती है ।

''साधवो जङ्गमं तीर्थम् निर्मलं सार्वकालिकम् ।
येषां वाक्योदकेनैव शुद्ध्यन्ति मलिना जनाः ॥''
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽथ-जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ।''

सन्त महात्मा सार्वकालिक चलते फिरते तीर्थ हैं जिनके वाक्यरूपी शुद्धोदक से मलिन लोग शुद्ध होते हैं । जिनका चित्त दुष्ट है, मलिन है वे तीर्थ स्थान में स्नान से पवित्र नहीं होते हैं । ऐसे व्यक्ति तो सैकड़ों तीर्थों के जल से प्रक्षालित सुरा पात्र की भाँति अपवित्र ही रहते हैं । गंगादि के स्नान से देह शुद्धि तो होती है परन्तु अन्त:करण की शुद्धि के बिना सफलता नहीं प्राप्त होती । मानसिक शुद्धि सन्तों महात्माओं एवं विद्वानों के सत्संग से ही सम्भव है अत: साधु महात्माओं की शरण में जाकर उनकी सेवा सत्संग सदैव करनी चाहिए ।

अत एवोक्तम्- **''गङ्गादिसर्वतीर्थेषु यो नरः स्नाति सर्वदा ।**
यः करोति सतां सङ्गं, तयो; सत्सङ्गमो वरः ॥''

इति निश्चय:

जो मनुष्य गंगाजी आदि तीर्थों में सदा स्नान करता है और जो सत्संग करता है उनमें सत्संग ही श्रेष्ठ है ।

अत: कलियुग में चलते फिरते तीर्थों का महत्त्व सर्वाधिक माना जाता है । क्योंकि अन्य तीर्थ तो अपने स्थान पर ही स्थित हैं जब जो वहाँ पहुँच जायेगा, शारीरिक शुद्धि हो जायेगी । किन्तु साधु एवं महात्मा चलते फिरते तीर्थ हैं जो स्वयं किसी के भी घर में उपस्थित होकर दुर्विनीत को भी सत्संग की इच्छा न होने पर सत्संग लाभ देकर उसे भगवत् कृपा का पात्र बना देते हैं । इसलिए पापमोचक भवसागर से पार करने वाले सन्त सभी तीर्थों से अधिक होते हैं ।

तथा च मानसतीर्थानिः मानसतीर्थानि ।
'सत्यं तीर्थं क्षमातीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ॥

सर्वभूतदयातीर्थं तीर्थमार्जवमेव च ।''
'दानं तीर्थं दमस्तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमुच्यते ॥
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थञ्च प्रियवादिता ।''
''ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम् ॥''

(२) मानस तीर्थ- सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, सर्वभूत दया, सरलता, दान, दम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादिता, ज्ञान धैर्य एवं तप मानसतीर्थ कहे गये हैं ।

इन मानसतीर्थों की भी शुद्धि परम भागवत एवं तीर्थभूत महात्माओं के सेवन एवं सत्संग से ही सम्भव है अन्यथा नहीं । पद्मपुराण में भी कहा गया है-

''यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् ।
''विद्यातपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते ॥'' (इति पद्मपुराणे)

अर्थात् जिसने अपने हाथ, पैर एवं मन को वश में कर लिया है । विद्या तप एवं कीर्ति से युक्त है उसी को तीर्थ का फल प्राप्त होता है ।

''स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः ।''
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते ॥'' (इति महाभारते)

उसी ने स्नान किया है जो इन्द्रिय निग्रह में स्नान करता है वही पवित्र है जिसका मन पवित्र है केवल जल से शरीर को गीला करना ही स्नान नहीं है ।

जिसके चित्त में मलिनता है उस व्यक्ति के शत बार भी गंगा स्नान करने से शुद्धि सम्भव नहीं है ।

उक्तञ्च:- **''यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः ।**
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः ॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः ।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः ॥

अर्थात् लोभी, निन्दा परायण, क्रूर, पाखण्डी एवं विषयी व्यक्ति सभी तीर्थों में स्नान कर लेने पर भी मलिन एवं पाप से युक्त ही बना रहता है ।

सत्संगादि भी लोभी, निन्दक, चुगलखोर क्रूर, दम्भी और विषयासक्त मनुष्य को पवित्र नहीं कर सकता । इसलिए सब प्रकार से उसी की शुद्धि

होती है जो अपने समस्त मानसिक मल को छोड़कर विशुद्ध हो क्योंकि मानसमल के छोड़ते ही अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल होता है ।

स्थावराणि तीर्थानि तुः-

(३) स्थावर तीर्थ- जैसे-अयोध्या, जनकपुर, प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, पुष्कर, काशी, हरिद्वार, उज्जैन, द्वारिकापुरी, रामेश्वरम्, श्रीरंग, नासिक, बदरिकाश्रम एवं काञ्ची इत्यादि स्थावर तीर्थ कहे गये हैं ।

'तस्माद् भौमेषु तीर्थेषु मानसेषु च नित्यशः ।
उभयेष्वपि च यः स्नाति स याति परमां गतिम् ॥'

(श्रीस्कन्दपुराणे अगस्त्यवचनम्)

किञ्चः- **''तीर्थं हि भगवन्मार्गः साधनं परमं मतम् ।**
देशकालविभूतीनां ज्ञापकं बुद्धिवर्द्धकम् ॥''
''धर्मस्य च दयायाश्च ज्ञानं वास्तविकं भवेत् ।
विश्वप्रेम तथाविश्वबन्धुत्वं जायते ध्रुवम् ॥''
''स्वाऽभीप्सितं च तीर्थसेवनतः फलम् ।
सांसारिकेभ्यो बन्धेभ्यः वासनाभ्यश्च लभ्यते ॥''
मुक्तिः सर्वात्मभावेन साधुतीर्थनिषेवणात् ।''

किञ्च- **''अस्तित्वञ्चैव माहात्म्यम्' तीर्थानां विद्यतेऽनिशम् ।**
सेवकानां सुखप्राप्तिः स्वात्मप्रज्ञानप्रकाशनम् ।
कर्तव्यपालनज्ञानं साफल्यं लब्धजन्मनः ।
मायामोहनिरासश्च तीर्थसेवनसत्फलम् ॥

स्कन्द पुराण में अगस्त्य जी का वचन है कि इसलिए भौम और मानस इन दोनों तीर्थों में जो स्नान करता है वह परम गति को प्राप्त होता है और भी- भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन तीर्थ है देशकाल और भगवान् की विभूतियों का ज्ञापक एवं बुद्धिवर्द्धक है । धर्म और दया का वास्तविक ज्ञान, विश्वप्रेम और विश्वबन्धुत्व की भावना प्रकट हो और अपने अभीष्ट की प्राप्ति तीर्थ सेवन का फल है सांसारिक बन्धनों से और वासनाओं से सर्वतो भावेन मुक्ति साधु और तीर्थों के सेवन से प्राप्त होती है । तीर्थों का अस्तित्व और माहात्म्य निरन्तर विद्यमान है सेवकों को सुख प्राप्ति, स्वात्मज्ञान का प्रकाश, कर्तव्यों के पालन का ज्ञान, शरीर धारण की सफलता और माया मोह का निरास ही तीर्थ सेवा का उत्तम फल है ।

जो लोग तीर्थों का सेवन करते हैं उनकी बुद्धि, विशुद्ध, प्रबुद्ध एवं ज्ञान ग्रहण करने योग्य बन जाती है । वे लोग सांसारिक मिथ्या, कपट, पाखण्ड, कर्मों में प्रवृत्त नहीं होते । उनकी मानसिक वृत्ति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बन जाती है वे सम्पूर्ण संसार को अपना मित्र एवं हितैषी मानते हैं । वे सबके हैं और सभी लोग उनके हैं ।

यदि तीर्थ सेवन से भी बुद्धि शुद्ध नहीं हुई तो तीर्थ सेवन व्यर्थ ही समझिये । वहाँ रहकर भी यदि मिथ्यावादिता, पाखण्ड प्रवृत्ति, प्रमाद आलस्य एवं पाप कर्म करने का विचार मन में जागृत होता है, तो उसका कुछ भी फल नहीं प्राप्त होता, बल्कि पाप और अधिक परिपुष्ट हो जाते हैं । कहा गया है- अन्य क्षेत्रों में किये हुये पाप तीर्थ क्षेत्र में निवास करने से नष्ट होते हैं, किन्तु तीर्थ क्षेत्र में जाकर जो पाप किये जाते हैं, वे कभी विनष्ट हो ही नहीं सकते ।

अत: तीर्थ सेवन के समय सत्य भाषण धर्म पालन आवश्यक है । पाखण्ड, आलस्य एवं प्रवञ्चना से दूर रहना चाहिये । मन, वाणी एवं कर्म से निष्पाप होकर भगवत् स्मरण करते हुये सभी के हित साधन में निरत रहना चाहिये । अपने आप में दासानुदास की भावना होनी चाहिये । यही परम धर्म है- यही जीवन की सफलता है और यही भगवत् प्राप्ति का उपाय है । यही तीर्थोपासना है । तीर्थ जलों से परिपूर्ण हुआ करते हैं और जल ही 'सोम' का स्थूलतम रूप है और सोम प्रधान है । सोम ही सभी प्राणियों में जीवन तत्त्व है । सोम से ही प्राण पुष्ट होते हैं 'अग्निषोमात्मकं जगत्' यही वैदिक सिद्धान्त भी है । सोम ही अन्न है, वही घृत है, दुग्ध है । सभी वनस्पतियों में सोम ही व्याप्त है । यही कारण है कि सभी औषधियाँ भी हरी-भरी पुष्पित एवं फलित रहती हैं सभी वृक्ष, लता, गुल्म एवं क्षुप वृक्ष सोम रस से ही अस्तित्व में हैं । यह सोम मुख्य रूप से तीर्थों में ही उपलब्ध होता है । जल रूप में तो सोम प्रत्यक्ष ही है । अत: तीर्थ जीवन के आधारभूत हैं । इनका संरक्षण अत्यावश्यक है । तीर्थों में होने वाले यज्ञ यागादि कर्मों का विधान भी सोम तत्त्व वर्द्धक है । अत: तीर्थों का सेवन करना, आश्रय लेना अनिवार्य है ।

किन्तु इस समय भारत में बहुत से आसुरी स्वभाव वाले मानवाधम उत्पन्न हो गये हैं, जो प्रतिद्रिन हमारे तीर्थों को दूषित कर रहे हैं । देवमन्दिरों

एवं देव प्रतिमाओं को विखंडित कर रहे हैं। धर्मशास्त्रों का ध्वंस कर रहे हैं। पवित्र स्थलों पर आक्रमण कर रहे हैं, हमारी धार्मिक क्रियाओं एवं यज्ञ यागादि के साधनों को विनष्ट कर रहे हैं। ऐसी दानवी प्रवृत्ति वाले लोगों से सम्पूर्ण भारत आक्रान्त है। धार्मिक हिन्दू लोग भी संत्रस्त हैं। अत: अब प्रतीक्षा का समय नहीं है। शीघ्र ही उत्साहपूर्वक दुर्दान्त दुष्टों का दमन करते हुये उनका प्रतीकार करना चाहिये।

अत: सभी को पारस्परिक वैरभाव को भाड़ में झोंककर अपने शौर्य, तेज एवं बल को एकत्रित कर, कन्धे से कन्धा मिलाकर विदेशी आक्रमण का मुँह तोड़ जवाब देते हुये हमें उन्हें पैरों से मर्दित कर धूलि में मिला देना चाहिये। सभी भारतवासी क्षत्रिय, सैनिक, धर्मप्राण, उत्साही नवयुवक पूर्णरूपेण अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित होकर अपनी प्रतिष्ठा एवं गौरव की रक्षा के लिये सन्नद्ध हो जाये। देव पूजक, याज्ञिक, कर्मठ सन्त एवं महन्त सभी का यह परमावश्यक कर्त्तव्य है कि धर्म का विध्वंस करने वालों लोगों को विनष्ट करने हेतु कमर कस लें और विरोधियों को समाप्त कर दें।

हिंसक लोगों की हिंसा निन्दनीय नहीं होती। हिरण्यकशिपु के वध के प्रसंग में प्रह्लाद स्तुति में श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

साधु पुरुष भी सर्पों एवं बिच्छुओं के वध से प्रसन्नता प्रकट किया करते हैं। अत: हिंसक लोगों की हिंसा करो, धार्मिक स्थानों की रक्षा करो और धर्म का पालन करो- यह कहकर श्रीरामानन्दाचार्य जी ने वाणी को विराम दे दिया। सभी ने उनका अभिनन्दन किया तथा सभा का विसर्जन हो गया।

अडतीसवाँ परिच्छेद

जब श्रीरामानन्दाचार्य श्रीद्वारिकाधीश को साष्टांग प्रणाम करके तपोमूर्त्ति श्री कर्दम महर्षि के आश्रम की ओर जाने हेतु उद्यत हुये उस समय सौराष्ट्र देशवासी नाग़रिकों भक्तों एवं महाजनों ने अपनी प्रतिष्ठा एवं स्वरूप के अनुसार धन रत्न आदि उपहारों से उन्हें सम्मानित किया । उन सभी को अपने शुभाशीष से अभिनन्दित करते हुये आचार्य श्री ने कहा-शास्त्र में संन्यासियों के लिये धन एवं रत्नादि का स्पर्श भी निषिद्ध है फिर उनका ग्रहण करना तो दूर की बात है और ऐसा कहते हुये उस समस्त धनराशि को समागत प्रमुख ब्राह्मणों, भगवद्भक्तों, वेदपाठियों एवं याज्ञिकों में विभक्त कर बाँट दिया ।

तदनन्तर श्रीद्वारिकापुरी मन्दिर को वहाँ की भूमि को श्रद्धा सहित पुनः पुनः प्रणाम करते हुये आगे बढ़े । धीरे-धीरे पैदल चलते हुये क्रमशः एक जंगल से दूसरे जंगल को पार करते हुये श्री डाकोरनाथ स्थान में श्री रणछोड़ राय मन्दिर पहुँच गये । श्री रणछोड़ स्वरूप का दर्शन, वन्दन, एवं पूजन विधि विधान के अनुसार करने के पश्चात् बारम्बार विविध स्तोत्र मन्त्रों से स्तुति करके तथा एक रात वहाँ निवास करके समागत वैष्णवों को भक्ति भाववर्द्धक प्रवचनों से सन्तुष्ट कर भगवान का रणछोड़ नाम कैसे पड़ा इस सम्बन्ध में भगवल्लीला माहात्म्य का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुये सभी की शंकाओं का निवारण कर उनके मन को संतुष्ट किया ।

वहाँ से चलकर आचार्य श्री जब साबरमती के निकट आये तब महाभारत के विशिष्ट पात्र दानवीर अंगराज कर्ण के नाम से प्रसिद्ध और उन्हीं के द्वारा बसाई गई कर्ण यशवर्द्धिनी कर्णावती नगरी के दर्शन की इच्छा सभी के मन में जाग्रत हुई । यह नगरी साबरमती के दक्षिणी तट में विशाल भव्य भवनों एवं राजप्रासादों से सुशोभित थी । जहाँ बड़ी-बड़ी सड़कें राजपथ, चौराहे एवं गलियाँ चारों ओर से बड़ी-बड़ी चहार दीवारियों से घिरीं थीं । मणियों, रत्नों से सुशोभित विशिष्ट बाजार से अलंकृत थीं ।

बाजारों में एक ओर अनेक मुक्ताफल निर्मित बड़े-बड़े हार लटक रहे थे। कहीं खूँटी में मुक्ताओं की लड़ियाँ मुक्त गुच्छ अवलम्बित थे। कहीं हीरक हारावली अपनी शुभ्रकान्ति से कैलासवासी शंकर के अट्टहास के समान अपनी धवलिमा बिखेर रही थी। बाजारों में सुशोभित महापद्मरागमणि अपनी लालिमा से असमय में ही सन्ध्या हो जाने का भ्रम उत्पन्न कर रहीं थीं। महानील रत्नों का समूह अपनी नीलिमा से दिन में ही रात्रि हो जाने का संशय उत्पन्न कर रहा था।

इसी प्रकार पुष्पराग मणियों का समूह भी सायंकाल के समय में पूर्वाद्धकालिक मृदुल एवं स्वर्णिम सूर्य कान्ति का भ्रम उत्पन्न कर रहा था। कहीं प्रवाल अपनी लाल कान्ति को बिखेर रहा था, कहीं गोमेद वैदूर्य एवं माणिक्यों का समूह अपनी अपनी कान्ति से उस बाजार को अद्‌भुत एवं दर्शनीय बना रहे थे।

एक ओर बाजार में रंग बिरंगे अनेक वर्ण वाले मोटे एवं पतले रेशमी वस्त्र सुशोभित हो रहे थे। पुरुषों एवं महिलाओं के प्रयोग में आने वाले वस्त्र अलग-अलग प्रकोष्ठों में सुसज्जित थे। कुछ सिद्ध वस्त्र जैसे पुरुषों की धोतियाँ, दुपट्टे, कोट और पगड़ियाँ सूती एवं रेशमी दोनों ही प्रकार भी वहाँ उपलब्ध थीं। चाँदी और सोने के सूत्रों से निर्मित सुन्दर गुच्छों एवं आम्र फलों की आकृतियों से चित्रित, स्वस्तिक चिन्हों से अलंकृत साड़ियाँ अतीव मनोहारिणी प्रतीत हो रही थीं। जिन्हें व्यापारी बेच रहे थे।

सभी प्रकार के वस्त्र (सूती, ऊनी, रेशमी) उन बाजारों में क्रय-विक्रय हेतु लाये गये। बिछौने के प्रयोग में आने योग्य चादर अत्यन्त मुलायम तूल (रूई) निर्मित रजाईयाँ, हाथियों और घोड़ों की पीठ पर बिछाने के योग्य चित्र विचित्र चाँदी सोने के तन्तुओं से जटित रेशमी और मखमली गद्दे जो राजाओं के आसन योग्य होते हैं वहाँ बेचे और खरीदे जा रहे थे।

कहीं सुगन्धित द्रव्यों का व्यापार हो रहा है। कश्मीर में उत्पन्न कर्पूर, कस्तूरी, केशर, कदम्ब, कमल, केशर, केतक, केतकी, मौलश्री, चम्पा, जूही, चमेली एवं चन्दन के रस से बनाये गये सुगन्धित तैल एवं इत्र यद्यपि वहाँ अत्यन्त सुरक्षित काँच की पेटियों में बन्द करके रखे गये थे तथापि उनकी बाहर फैलने वाली सुन्दर सुगन्धि समागत दर्शक जनों को

आनन्दित कर रही थी । अनेक प्रकार के द्रव्यों से निर्मित अत्यन्त सुगन्धित विशेष प्रकार की धूप अपनी विशिष्ट गन्ध से मन को मोह रही थी । कहीं-कहीं विशेष प्रकार के शाक, कन्द, मूल एवं फलों की दूकानें सुशोभित थीं ।

कहीं अनेक प्रकार के स्वाद एवं सुगन्धि से युक्त विभिन्न जातियों के आम्रफल, कश्मीर में उत्पन्न होने वाले सेव, केले, सीताफल, रामफल, तेंदू के फल, नारंगी, अनार, जामुन, नींबू, चीकू, ककड़ी, खरबूजा आदि फल बेचे जा रहे थे ।

कहीं महिलाओं की श्रृंगार सामग्री, कुंकुम, पाउडर, माल की बिन्दी, केश प्रसाधन सुगन्धित तेल, कंधे, कंगन, चूड़ियाँ वेणियाँ कज्जल सिन्दूर आदि सुशोभित थे । कहीं गृहस्थी के उपकरण पात्र थाली, गिलास, कटोरे, कमण्डल, पतीलियाँ खाद्य वस्तु संरक्षण पात्र सजे हुये थे । इस प्रकार महान् दानवीर अंगराज महाराज कर्ण के धवल यश का विस्तार करने वाली सर्वगुण सम्पन्ना कर्णावती नगरी अतीव अद्भुत एवं प्रशंसनीय थी कालान्तर में वहीं नगरी धन लोलुपे यवन लुटेरों के द्वारा लूटी गयी । और निरन्तर आक्रमणों से आक्रमित होती हुई विध्वंसित हो गयी । पुनः अहमद नामक यवन ने इसको अपने नाम पर ही अहमदाबाद नाम देकर अधिकृत कर लिया । क्रम से समयानुसार कर्णावती, राजनगर, अहमदाबाद इस नाम से इस समय प्रसिद्ध है ।

वहीं परम पावन सरस शीतल मधुर जलवाली सरस्वती (सावरमती) के उत्तरी तट पर महानतपोमूर्त्ति महर्षि मरीचि का आश्रम सुशोभित था । महारण्य प्रदेश में बरगद, पीपल, नीम, कदम्ब, मौलश्री, शिंशपा, शाल्मली, शमी, आम्र, नारंगी, सन्तरा, अमरूद, आँवला, कैथा, बादाम, नारियल, खजूर, बेल, हर्र, इंगुदी, अर्जुन पलाशादि वृक्षों से सुशोभित अनेक फूलों एवं फलों से समन्वित वह आश्रम प्रकृति की सुषमा से और अधिक मनोहर बन गया था । शीत, धूप एवं हवा को सहन करते हुये एवं अनवरत जल धाराओं से अभिसिंचित स्वच्छ पत्र वाले वे वृक्ष आश्रम निवासी वनवासियों की भाँति लग रहे थे ।

जहाँ अनेक प्रकार के छोटी-छोटी डाली वाले मुलेठी कटेरी आदि वृक्ष सुगन्ध बहुल चम्पक नागकेसर हेमपुष्पा शिवलिङ्गि आदि विविध

वेणीभूत आलिंगन विशेष जन्य सुखानुभव करने वाली प्रिय सखियों की तरह तपोवन निषेवण जन्य अपूर्व तपोबल से प्राप्त की तरह अवतार धारण करके विविध वृक्ष शोभा पा रहे थे । उस आश्रम में अनेक औषधियाँ जड़ी बूटियाँ भी थीं जो मानव स्वास्थ्य हेतु उपयोगी थीं । जैसे कुन्द, कुटज, कुरुबक, शिवलिंगी, चन्द्रबाला, धातु पुष्पिका, तालपर्णी, तोय पिप्पली पिप्पली श्यामा, मुद्गपर्णी, विष्णुक्रान्ता, सालपर्णी, बला, नागबला, नागबल्ली, शतमूली, मूषकपर्णी, सोमवल्ली हरीतकी आदि अपनी अपने गुण सौरभ से समृद्ध थीं ।

जहाँ अनेक प्रकार के कन्द समूह महर्षियों की सेवा में सेवक की तरह सर्वदा अतिथियों के सत्कार के लिए तपस्वियों के आहार सम्पादन प्रतिपल जागरूक प्रहरी की तरह आश्रम के चारों तरफ सेवा कर रहे थे उनमें विशेष करके शकरकन्द, आलूकन्द, रतालू, अरबी, सूरण मधुरोदन कन्द आदि सुभोज्य सर्वदा उपलब्ध थे दूसरे भी अनेक कन्द, नाना औषधियाँ जीवन्तिका, जया कपिवल्ली, अश्वगन्धा, शंखपुष्पी आदि थे । वहीं पर महर्षि मरीचि के तप: प्रभाव से लाई गई पवित्रतोय भगवती भागीरथी प्रवाहित थीं । भगवान भास्कर की किरणों से विकसित कमलों के पीत पराग से वह जल सुगन्धित एवं और अधिक मधुर हो गया था । प्रतिदिन सप्तर्षि मण्डल के करकमलों से चुने जाने से वे पुष्प सौभाग्यवान बन गये थे । प्रभात कालिक मन्द-मन्द वायु आन्दोलित नवपल्लव तथा पुष्प समूह दर्शकों के नेत्र को सुख वितरित कर रहे थे । पुष्प समूह पर बैठे हुये मधुपान लोलुप भ्रमर अपनी गुंजार से मानों महर्षि मरीचि का गुणगान कर रहे थे । कहीं-कहीं कमल के भीतर निर्भय बैठे हुये मधुकर दम्पती एक ही पद्मपात्र में रस पान करते हुये अनुरागरंजित हो रहे थे ।

जिसमें भगवती भागीरथी में स्नान की इच्छा से आये हुये लोगों का मनोरंजन मछलियों की जलक्रीड़ा से हो रहा था । निर्मल जल में विकसित कमल समूह के मध्य में जल कुक्कुट एवं बगुलों की पंक्तियाँ सुशोभित हो रही थीं । नलिनीदलों में निश्चल अंगो वाली हंसिनी अपनी लाल चोंच को अपने पंखों में छिपाकर निश्चिन्त भाव से सो रही थी । चन्द्र किरणों के समान धवल एवं मृदुल कमल नाल को अपनी चोंच से तोड़कर हँस अपनी प्रणयिनी हंसिनी को खिला रहा था । साथ ही आदरपूर्वक अपने पंख रूपी छत्र की छाया करके उसके आतप का निवारण कर रहा था । एक ओर

चकोर शतदल कमल की पंखुड़ियों से आच्छादित अपनी चकोरी को न देखते हुये कातर होकर क्रन्दन कर रहा था ।

उसी सरोवर के एक भाग में सघन वृक्षों की शीतल छाया में मण्डलबद्ध बैठे हुये हिरण आनन्दपूर्वक जुगाली करते हुये तथा अपनी ग्रीवाओं को फैलाये हुये अतीव नयनाभिराम लग रहे थे । गड्ढों में नागर मोथा के प्रेमी वाराह भूमि भाग का उत्पाटन कर रहे थे । कहीं पर घनघोर जंगल विहार से प्रमुदित होने वाले जंगली भैंसे, नीलगाय, स्रू नामक मृग, गोपुच्छ, शाल, भेड़िये, बन्दर, खरगोश, सियार, लोमड़ी, चमरी गाय, शरभ, काले मृग आदि खेलते हुए शोभित हो रहे थे ।

वहीं आश्रम के वृक्षों में शाखाओं में बैठे हुए मधुराति मधुर कलकल की ध्वनि करते हुए चटक, कौड़िला, कबूतर, खञ्जन लवा चिड़िया आदि पक्षियाँ एक शाखा से दूसरी शाखा पर चढ़ती हुई नाचती है कूजती है और जब तक दिन है तब तक विहार करती हैं ।

इसी आश्रम में बहुत से महर्षि कुमार ब्रह्मचारी जिनका अभी अभी यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हुआ था वे कौपीन धारण किये, हाथ में दण्ड एवं कमण्डलु लिये हुये प्रशस्त वेषवाले वे कुश एवं समिधा लाने में निरत छोटे-छोटे बटु बहुत ही अच्छे लग रहे थे । मौञ्जी, मेखला एवं मृगचर्म से सुशोभित कटि प्रदेश वाले वटुक दण्ड लिये हुये सूर्योपस्थान कर रहे थे ।

एक ओर तिल जौ चावल घृत एवं शर्करा द्राक्षा से युक्त मन्त्रों से पवित्र छवि द्वारा अलग देवताओं के नामोच्चारणपूर्वक स्वाहा की ध्वनि से समस्त पापों का एवं विघ्नों का विनाश किया जा रहा था । यज्ञ के धूम से वह प्रदेश पूर्णरूपेण पवित्र बन गया था । सनक, सनन्दन, सनातन एवं सनत्कुमार आदि के मंडलों में मिले हुये अपने कर्म में दक्ष नये-नये ब्रह्मचारी वटु प्रात:कालिक अग्निहोत्र विधि में संलग्न थे ।

वहीं आश्रम में एक ओर अनेक शाखाओं के ब्राह्मण अनेक प्रकार के मन्त्रों एवं संहिताओं का पाठ करते हुये अपने शिष्यों को पढ़ाते हुये साक्षात् शब्द ब्रह्म की उपासना कर रहे थे । तैत्तिरीय एवं ऋग्वेद शाकल्यादि शाखाओं के अध्येता अपने छात्रों को पढ़ा रहे थे पद वर्ण का उच्चारण अत्यधिक स्पष्ट था । ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित का क्रम उनके कण्ठ स्वर से स्वाभाविक रूप से प्रकट हो रहा था ।

कहीं-कहीं कर्मकाण्ड विधान में निपुण महर्षि अनेक प्रकार के यज्ञ कुण्डों एवं मण्डपों का निर्माण कर रहे थे । समस्त यज्ञोपकरणों तथा हवनीय द्रव्यों के साथ अपने-अपने शिष्यों के साथ यज्ञनारायण की उपासना कर रहे थे । बृहस्पति के ही समान सभी विद्याओं में निपुण आश्रमवासी ब्राह्मण भी ब्रह्मवर्चस से युक्त अपने ब्रह्मचारियों को पढ़ाते हुये बहुत अच्छे लग रहे थे ।

उसी आश्रम में सुरम्य एवं ललित लता वितान से सुशोभित अनेक वृक्ष समूहों से आच्छादित सघन छाया के मध्य एक ऊँचे स्थान पर तप:स्थली सुशोभित हो रही थी । वह तप:स्थली निरन्तर पुष्पों के अभिवर्षण से सम्पूजित थी । ऐसा प्रतीत होता था जैसे कि अपनी श्रद्धा एवं भक्ति भावना को प्रदर्शित करते हुये लता वृक्ष पुष्प वर्षण के द्वारा मरीच ऋषि के तप:स्थली का अर्चन वन्दन एवं अभिनन्दन कर रहे हों ।

वहाँ स्थित सभी प्राणी जन्मजात अपने स्वाभाविक वैरभाव का परित्याग कर सहोदर बन्धुओं के समान परस्पर सहानुभूति एवं मैत्री का भाव प्रदर्शित कर रहे थे । ग्रीष्म ऋतु में प्रचण्ड मार्तण्ड की किरणों से सन्ताप को न सहन कर सकने वाले भुजंग सघन वृक्षों की छाया में बैठे हुये मयूरों के पंखों की छाया के नीचे आनन्दपूर्वक मध्याह्न में विश्राम कर रहे थे । एक ओर विशाल वृक्ष की छाया में बैठे हुये भयानक जटा एवं ग्रीवा वाले तेज दाढ़ एवं कठोर दाँत एवं नख वाले हिरणद्वेषी हिरण भक्षक सिंह के ही समीप बैठा हुआ हिरण का बच्चा अपने छोटे-छोटे सींगों के अग्रभाग से धीरे-धीरे सिंह के शरीर को खुजला रहा है और सिंह भी इस क्रिया से आनन्दित होता हुआ अपनी आँखें बन्द किये हुये शान्तभाव से विश्राम कर रहा है । लता के नीचे सोये हुये बिडाल (विलार) के बालों को बिल में बैठा हुआ चूहा काट रहा है, और वह बिडाल कोई प्रतिक्रिया न करता हुआ केवल देख रहा है । एक ही वृक्ष की एक ही शाखा पर बाज पक्षी और कपोत बैठे हुये हैं । वहाँ कोई किसी पर आक्रमण नहीं करता था ना ही हिंसा द्वेष करता और न क्रूर दृष्टि से देखता ।

इस प्रकार महर्षि मरीचि के तप का प्रभाव आज भी वहाँ दिखाई दे रहा है । सभी जीव निर्भय विचरण करते हुये साबरमती नदी के एक ही घाट पर पानी पी रहे हैं । श्रीरामानन्दाचार्य जी ने अपने समस्त सहागत जनों को रात्रि में आज यहीं विश्राम करने का आदेश दिया । वहाँ सब प्रकार के

कन्द, मूल, फल आदि सुलभ थे । समागत अतिथियों के स्वागतार्थ महर्षि की तप:स्थली में अद्भूत महर्षि के ही प्रतिनिधि के रूप में वे वृक्ष स्वयं फलों और पुष्पों के उपहार से तथा अनेक प्रकार के स्वादिष्ट एवं मधुर कन्द मूलादि से आचार्य श्री का स्वागत कर रहे थे ।

स्वामी जी की आज्ञा पाकर वहाँ कन्दमूल फलादि का आहरण करके साधु महात्मा आश्रम के सभी वृक्ष लतादि का सम्मान करते हुए उनके द्वारा प्रदत्त भेंट स्वरूप कन्दमूल पुष्पादि को स्वीकार किया ।

श्रीसाबरमती के तट पर स्नान, ध्यान, सन्ध्या वन्दन आदि के पश्चात् जब महात्मा लोग महर्षि मरीचि के आश्रम में पहुँचे तब सभी ऋतुओं में उत्पन्न होने वाली फलों और फूलों की आश्चर्यजनक समृद्धि को देखकर अत्यन्त आश्चर्य में डूब जाने वाली महर्षि मण्डली ने श्री रामानन्दाचार्य जी से महर्षि मरीचि की तपस्या के प्रभाव के सम्बन्ध में जिज्ञासा एवं प्रार्थना की ।

श्रीरामानन्दाचार्य जी ने शास्त्रों में वर्णित एवं श्रुत श्रीमरीचि की तपोभूमि से सम्बन्धित आख्यान का तथा उनकी महान महिमा का वर्णन धीर प्रशान्त एवं मधुर स्वर से करते हुये बोले-

जब इन्द्र महर्षि दधीचि की तपोमयी अस्थियों को लाकर विश्वकर्मा द्वारा उन अस्थियों से वज्र का निर्माण करा लेता है और महान पराक्रमी वृत्तासुर को उसी वज्र से मारकर निश्चिन्त हो जाता है, तब वृत्तासुर के वध से उत्पन्न महाब्रह्म हत्या इन्द्र को अत्यन्त व्याकुल कर देती है । इन्द्र को कहीं भी शरण प्राप्त नहीं होती और जहाँ-जहाँ वह जाता है, वहीं-वहीं वह हत्या उसके पीछे-पीछे दौड़ती हुई उसे व्यथित करती रहती है । तब सभी ओर से असहाय एवं अशरण होकर इन्द्र इसी महर्षि मरीचि के आश्रम की शरण लेता है ।

यहाँ आकर साबरमती के उत्तरी तट पर स्थित मरीचि आश्रम के सरोवर में उत्पन्न महान कमल नाल में छिपकर स्वयं ऋतम्भरा प्रज्ञा से परब्रह्म का जप करता हुआ उस महान हत्या के पाप से मुक्त होता है । तब से महान हत्यादि के पापों को नष्ट करने वाले इस आश्रम का महत्त्व सम्पूर्ण भुवनतल में फैला हुआ है ।

इसीलिये मैं आप सबसे कम से कम एक रात्रि यहाँ विश्राम करने का आग्रह कर रहा हूँ । इससे अधिक यहाँ के महत्त्व के विषय में और क्या कहा जा सकता है । तदनन्तर सभी सन्तों महात्माओं ने मरीचि महर्षि की तपोभूमि का ऐसा प्रभाव सुनकर नितान्त विस्मित होते हुये बार-बार उस भूमि को प्रणाम करके श्री रामानन्दाचार्य जी से यहाँ अपने आगमन एवं विश्राम की सूचना देने वाले किसी चिह्न विशेष की स्थापना हेतु और श्री पादुकाओं के स्थापन के लिये अपने-अपने भाव प्रकट करने लगे । सभी ने साग्रह निवेदन किया कि आपके द्वारा सम्बोधित उपदेश सत्संग का कोई न कोई स्मारक यहाँ अवश्य होना चाहिये । आचार्य श्री एक क्षण के लिये विचार मग्न हो गये और तत्क्षण कुछ भी नहीं बोले ।

एक क्षण के बाद उल्लास एवं हर्षपूर्वक सभी को सम्बोधित करते हुये आचार्य श्री ने अपनी भविष्यवाणी की-महात्मा साधु होते हैं, दूसरों के कार्यों को सदैव सिद्ध किया करते हैं अत: आप लोग भी साधु ही है। सत्य है कि यहाँ कोई स्मारक होना चाहिये, किन्तु मात्र पादुका स्थापन से उस समय की स्मृति के अतिरिक्त और कोई विशेष फल पादुका स्थापन का नहीं हो सकता । यह महारण्य है यहाँ कोई आश्रम बनाकर नहीं रह सकता । अत: समय की प्रतीक्षा कीजिये ।

उनतालीसवाँ परिच्छेद

इस प्रकार महर्षि मरीचि की तपोभूमि के भूत एवं भविष्य काल के महत्त्व को स्पष्ट करने के पश्चात् समस्त विद्वन्मण्डली से सुशोभित श्रीरामानन्दाचार्य वहाँ से प्रस्थान कर 'सिद्धपुर' जाने के लिये उद्यत हुये। जहाँ सांख्याचार्य शिरोमणि भगवान् कपिल देव का प्रादुर्भाव हुआ था। जहाँ परम पवित्र जलवाली अविच्छिन्न प्रवाहवाली सरस्वती नदी प्रवाहित है। उसी सरस्वती नदी से आवेष्टित अमृतमय एवं कल्याणमय जलवाला सरोवर 'बिन्दुसर' अत्यन्त प्रसिद्ध है। (जहाँ भगवान् के नेत्रों से स्वयं अश्रुविन्दु गिरे थे इसीलिये उसका नाम बिन्दुसर के नाम से विख्यात हो गया। वह सरोवर सभी ऋतुओं में फलपुष्प की समृद्धि वाले सुन्दर वन से सुशोभित था। आनन्दित होकर पक्षिगण सदैव चहकते रहते थे, जिसके तट पर मत्त मयूर नर्तन करते हुये लोगों के अति प्रिय लगते थे। आम्र मंजरियों का रसपान करने वाले भ्रमर एवं कोयल अपनी गुंजार एवं कुहू कुहू की शब्दावली से वातावरण को प्रेममय बनाये हुये थे। चम्पक, अशोक, कदम्ब, कुन्द, मन्दार, कुटज, कुरबक अपने पुष्पों से सरोवर का अर्चन करते हुये अपनी सुरभि से उसे सुरभित कर रहे थे। हंस, जलकुक्कुट, सारस, चक्रवाक, चकोर, चातक, चटका एवं पारावत कबूतर आदि जल थल एवं नभ चर पक्षिगण अपने मधुर कलरव से समागत अतिथियों का अभिनन्दन करते हुये से प्रतीत हो रहे थे। अनेक वन्य पशुओं से वह वन प्रदेश सुशोभित था।

मनोहर वन प्रदेश ललित बिन्दु सरोवर एवं सरस्वती नदी से समलंकृत एवं श्री कर्दम महामुनि के तपस्या की सिद्धि से उत्पन्न अपूर्व माहात्म्य वाले नवीन एवं अद्भुत विमानों से सुसज्जित, श्रृंगार शान्त एवं भयानक रस की त्रिपुटी से युक्त त्रिवेणी संगम का स्मरण दिलाने वाले, नूतन सम्पत्तियों से समृद्ध, सभी लोगों के पापों का प्रक्षालन करने वाले, तपोगुण की वृद्धि से समृद्ध महर्षि के आश्रम में सभी लोगों ने उत्साहपूर्वक पदार्पण किया।

सिद्धपुर में श्री सरस्वती में स्नान कर बिन्दु सरोवर में सभी लोगों ने एकत्रित होकर विश्राम किया । दिन में दर्शनादि की सभी क्रियाओं को पूर्ण करके सायंकाल सत्संग सभा का कार्य प्रारम्भ किया । सुदूर स्थानों से आकर एकत्र हुये हजारों श्रोता एवं दर्शक आचार्य श्री की वाणी को सुनने के लिये लालायित थे । जिज्ञासा देखकर आचार्य श्री ने सिद्धपुर के माहात्म्य का वर्णन इस प्रकार किया ।

यह वही सिद्धपुर है, जहाँ भगवान कर्दम ने तप किया था । यहाँ ब्रह्मा जी ने स्वयं आकर गृहस्थ धर्म पालन करने हेतु भगवान श्री कर्दम को प्रेरित किया था । उनसे कर्दम जी ने कहा था कि मैं स्वयं किसी से कन्यादान की याचना नहीं करूँगा । तब ब्रह्मा जी ने कहा था कि महाराज मनु स्वयं ही अपनी रानी शतरूपा के साथ यहाँ आकर आपसे अपनी कन्या को स्वीकार करने की प्रार्थना करेंगे, अत: आप मनु महाराज को निराश नही कीजियेगा । यही समझाने के लिये मैं आपके पास आया हूँ । ऐसा निर्देश करके ब्रह्माजी स्वधाम को चले गये । तदनुसार महाराज महारानी शतरूपा के साथ आकर अपनी कन्या को उन्हें समर्पित कर चले गये थे । कन्या देवहूति भी बिना किसी आलस्य या प्रभाव के पूर्णरूपेण उनकी सेवा में निरत रहती थीं । समुपासना में अनेक वर्ष व्यतीत हो गये, और सेवा करते देवहूति की भी वृद्धावस्था आ गयी ।

एक बार भगवान् श्री कर्दम तप के कारण कृश शरीरवाली सेवा में निरत अपनी पत्नी को देखकर प्रसन्न होते हुये उसे सौभाग्य एवं सुख का अनुभव कराने हेतु एक अत्यन्त अद्भुत आश्रममय विमान का निर्माण किया । जिसमें इन्द्र के लिये भी सुदुर्लभ सम्पत्तियाँ विद्यमान थीं । विमान में दिव्य तप के प्रभाव से एक दिव्य सरोवर का निर्माण किया गया था, जिसमें विकसित सुनहले कमलों के पराग से वह जल सुरभित एवं स्वर्णिम बनकर मनोहर लग रहा था । अपने महान स्वरूप की सम्पत्ति से देवांगनाओं को भी लज्जित करने वाली रमणियाँ अपने कर कमलों में विविध प्रकार की शृंगार सामग्री लिये हुये देवहूति की आराधना करने हेतु वहाँ उपस्थित हो गयीं । देवहूति का निवास स्थान भी विविध उपकरणों एवं वैभव विलास की सामग्रियों से सुसज्जित था । जो इन्द्र के महल को भी अपने सौन्दर्य से तुच्छ बना रहा था । रत्न जटिल एवं स्वर्ण निर्मित्त अनेक पलंग वहाँ थे और वे

सभी कोमल मखमल एवं रेशम के आस्तरणों (बिछौनों) से युक्त थे। मणिजटित प्रांगण के फर्श में पड़ने वाले सुन्दरियों के प्रतिबिम्ब से वहाँ अनन्त नाग कन्याओं की उपस्थिति का भ्रम हो रहा था। अनेक पद्मराग मणियाँ, पुष्परागं, नीलाश्मसार वज्रप्रेंखित मणियों के खम्भों में जब मनुष्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता था, तब लगता था मानों भूलोक, स्वर्ग लोक, नाग लोक एवं गन्धर्वादि लोकों के सहस्रों विलासी जनों से वह विमान सेवित था। सभी ऋतुओं में फलों एवं फूलों की समृद्धि से तथा देवद्रुम कल्पवृक्षों से सुशोभित वे उपवन अत्यन्त रमणीय थे। अपूर्व दर्शनीय सौन्दर्य से युक्त रमणियों को अपनी सेवा हेतु उपस्थित देखकर देवहूति ग्लानि से भर गयी। मुख मलिन हो गया, क्योंकि देवहूति का शरीर जीर्ण हो गया था, बाल पक कर श्वेत हो गये थे और झुर्रियाँ पड़ गयीं थी।

भगवान श्री कर्दम ने यह जानकर मलिन मुख कान्तिवाली देवहूति को आज्ञा दी-देवि ! क्या देख रही हो ? क्या आपने अभी तक स्नान नहीं किया ? ये सभी देवांगनायें तुम्हारी सेवा हेतु यहाँ उपस्थित हैं। तुम इनकी स्वामिनी हो। इच्छानुसार इन्हें आदेशित करो। कमलों की सुगन्धि से सुरभित अत्यन्त स्वच्छ एवं गम्भीर जल में स्नान करो। ये तुम्हें स्नान करायेंगी, तुम्हारा अलंकरण करेंगी, तथा शुद्ध स्वच्छ वस्त्र पहिनायेंगी। भगवान श्री कर्दम की आज्ञानुसार सुन्दर दन्त पंक्ति वाली देवहूति जैसे ही उस बिन्दु सरोवर में डुबकी लगाने के बाद बाहर निकलीं वैसे ही उन्होंने अपने को साक्षात् सौन्दर्य की महालक्ष्मी के रूप में अत्यन्त सुन्दरी देखकर आश्चर्यान्वित हो उठीं। श्री कर्दम महर्षि के तप के प्रभाव से बिन्दुसर में ये सभी विशेषतायें आ गयी थीं। साक्षात् ब्रह्मा के मुख से निकली हुई यही सरस्वती हैं।

श्री कर्दम की तपस्या की शक्ति का परिचायक एवं सिद्ध गन्धर्वों से सेवित यही उनका शुभ आश्रम है। जहाँ पर भगवान स्वयं ही भूतल पर अपने सांख्य योग माहात्म्य को प्रचारित एवं प्रसारित करने के लिये अपनी आध्यात्मिक आन्वीक्षिकी विद्या के विस्तार के लिये सांख्याचार्यों की प्रार्थना पर श्रीकर्दम एवं देवहूति के घर में पुत्र के रूप में 'कपिलाचार्य' अभिधान से अवतरित हुये। जिनके प्रभाव से उनकी माता देवहूति सशरीर स्वर्ग को प्राप्त हुई थीं। पाञ्च भौतिक शरीर से कब प्राण निकल गये इसका भान उन्हें नहीं हो सका।

परम भाग्यवान आप सभी के समक्ष कपिलाचार्य के प्रकट होने की यही परम पवित्र एवं सिद्धिदायिनी भूमि है ।

जहाँ भगवान श्री कपिल ने अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हुये संसार के प्राणिमात्र को मृत्युभय के बन्धन से मुक्त करने के लिये अपनी सिद्धान्तमयी सांख्य योग महाविद्या का विस्तार किया था । मनुष्यों के लिये सबसे बड़ा भय मृत्यु का ही है । महान से महान कष्टों को भोगने वाला व्यक्ति भी वर्तमान जीवन से अपनी मृत्यु नहीं चाहता यद्यपि वह असहाय है, मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ है तथापि वह मरना नहीं चाहता । इस मृत्यु भय से कैसे मुक्त हुआ जा सकता है इस विषय में संसारी जीव तनिक भी विचार नहीं करता । प्राय: यह संसार चक्र ही ऐसा है जीना और मरना । इस जन्म मरण के चक्र से मुक्ति आवश्यक है ।

मनुष्य के जन्म और मृत्यु की कारणभूता उसके अपने कर्म फल की वासनायें हुआ करती हैं । वासना के आधीन होकर ही जीव अपने कर्मों से उपार्जित शरीर को प्राप्त करता है ।

'यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ।।'

उक्तञ्च गीतायाम्:- (८/६)

गीता में कहा गया है- मृत्यु के समय में मनुष्य जिस जिस भाव (विचार) का स्मरण करता है, उस भाव से भावित होकर उसी शरीर को प्राप्त कर लेता है । वृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है कि चित्त में जिसका निरन्तर चिन्तन होता रहता है जिसका मन में संकल्प होता है मन उस जीव को उसी संकल्पित लोक में ले जाता है ।

पुनर्जन्माऽङ्कुरं त्यक्त्वा स्थितं सभ्रष्टबीजवत् ।
देहार्थं ध्रियते ज्ञानज्ञेयाशुद्धेति चोच्यते ।।

इत्यादि प्रमाणों से यह निश्चित होता है कि जन्म ग्रहण का कारण उसकी तात्कालिक वासना ही है । वासना दो प्रकार की होती है- (१) शुद्ध वासना, (२) मलिन वासना । जो अज्ञान एवं अहंकार से युक्त वासना होती है । वह मलिन वासना होती है जैसा कि- जो अज्ञान से युक्त एवं अहंकारशाली हो विद्वान् लोग उस पुनर्जन्म को सम्पादित करने वाली वासना

को मलिन वासना कहते हैं । और जो भूने हुए बीज की तरह पुनर्जन्म के अंकुर से रहित होता हुआ केवल शरीर की स्थिति के लिए धारण की जाती है जो ज्ञान से ही जानी जाती है उसे शुद्ध वासना कहते हैं ।

जैसे भाड़ में भूँजा हुआ बीज अंकुर उत्पादन शक्ति से रहित हो जाता है अर्थात् जन्मांकुरनाशक भगवत् तत्त्व ज्ञान से पूर्ण हो जाना ही भूँजे हुये बीज के समान होना है केवल शरीर के अस्तित्व की रक्षा करने वाली वासना ही शुद्ध वासना है वैसी भगवततत्त्वज्ञान से युक्त जन्म मरण रूपी चक्र भ्रमण को नाश करने वाली और तात्कालिक भगवत्सेवोपयोगी शरीर के रक्षण में सक्षण भावना पद से वाच्य वासना जीवों को अभिप्सित होती है वही शुद्धा वासना कही जाती है जो सबके द्वारा काम्य होती है । पुनर्जन्म देने वाली मलिना वासना के तीन भेद बताये गये हैं- देहवासना, लोकवासना एवं शास्त्रवासना । देहवासना-अपना शरीर ही अपनी आत्मा है इस अभिमान के साथ जो व्यक्ति शरीर का ही पालन पोषण करने में लगा रहता है यही देहवासना है ।

लोकवासना-कीर्ति, मान, धन, सुख, साम्राज्य, अधिकार, वैभव, स्त्री, पुत्र, गेह एवं रत्नादि की कामना ही लोकवासना कही जाती है । शास्त्रवासना-शास्त्रीय ज्ञान विज्ञान के लिये पुनः जन्म ग्रहण करने की जो वासना (इच्छा) है वही शास्त्रवासना है । जो तीन प्रकार की होती है ।

गीतायाम् -

'मन्मना भव मद् भक्तो मद्याजी मां मनस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्यैवमात्मानं मत्परायणः ॥' (९-३४)
'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पित मनो बुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥'
मामुपेत्य पुनर्जन्मदुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥' (८-७-८-१५)

इन तीन प्रकार की वासनाओं में देहवासना एवं लोकवासना से शास्त्रवासना अच्छी मानी गयी है । क्योंकि इससे भगवत्तत्त्व ज्ञान का संग्रह किया जाता है । किन्तु शास्त्रवासना को प्राप्त करके भी भगवत् तत्त्व का

अन्वेषण छोड़कर लौकिक पदार्थों के संग्रह में जो आसक्त हो जाता है। वह वासना भी निन्दनीय है और सर्वथा त्याज्य है।

वासनाओं का मूलाधार मन की मलिनता ही है। यदि मन की मलिनता समाप्त हो जाय तो इन वासनाओं की स्वत: समाप्ति हो जाया करती है। मन की मलिनता के दूर करने का उपाय यही है कि पूर्ण रूप से भगवान् में ही अपने मन को लगा दिया जाय। मलिन मन वाले और तामसी प्रवृत्ति वाले कंस शिशुपाल आदि ने भी अपनी प्रवृत्ति को भगवान में ही लगा रखा था इसीलिये उनकी मुक्ति हुई।

गीता में भगवान ने कहा है- अर्जुन ! अपने मन को मुझ में लगा दो। मेरी उपासना में लग जाओ। मेरा ही यजन एवं नमन करो इस स्थिति में तुम मुझे ही प्राप्त करोगे।

सर्वदा मेरा ही स्मरण करते रहो और युद्ध भी करते रहो मन एवं बुद्धि को मुझे ही समर्पित करो मन और बुद्धि को मुझमें समर्पित करने से निश्चय ही मुझको प्राप्त कर लोगे। मुझको प्राप्त कर लेने के बाद परम संसिद्धि को प्राप्त महात्माओं का दु:खालय एवं अस्थिर स्वरूप पुनर्जन्म नहीं होता है।

इससे सिद्ध होता है कि मन की मलिनता को बिना दूर किये वासनाओं का अन्त सम्भव नहीं है। और वासनाओं के नष्ट हुये बिना जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्ति असम्भव है। जब तक जन्म होता रहेगा तब तक बन्धन से मुक्ति नहीं होगी। क्योंकि जन्म के साथ मृत्यु भी शरीर में प्रवेश किया करती है। यही कारण है कि जन्मधारी मृत्यु के भय से मुक्त नहीं हो पाता। अत: अपनी मनोवृत्ति को परमात्मा की ओर लगाना है यही जन्म मृत्यु से छुटकारा दिलाने वाला अमोघ अस्त्र है।

मनुष्य जिन जिन वासनाओं को अपने लिये हितकारी समझता है जैसे-सुख, धन, पत्नी, कीर्त्ति, पुत्र आदि जितनी भी एषणायें हैं उन सभी को यदि वह नित्य अनन्त आनन्द घन श्रीराम अथवा श्याम में निहित कर दे तभी वह आनन्द की अनुभूति करता हुआ जन्म, मृत्यु, जरा, शोक एवं मोह से मुक्त होकर निर्भय हो सकता है। ईश्वर के जिस स्वरूप में हमारी श्रद्धा भक्ति या मन की भावना बलवती हो उसी में मन को सुस्थिर करने का

प्रयत्न करना चाहिये । इसके अतिरिक्त कल्याण का अन्य कोई मार्ग नहीं है । इतना कहने के बाद श्रीरामानन्दाचार्य जी बोले- अब यदि किसी को किसी प्रकार की शंका हो तो वह अपनी जिज्ञासा की पूर्ति कर सकता है ।

तदनन्तर एक जिज्ञासु ने आचार्य श्री के चरणों में निवेदन किया- महाराज ! मानव जानते हुये भी पाप कर्म में क्यों प्रवृत्त होता है ? इसका क्या रहस्य है ?

आचार्य श्री परम प्रसन्न होते हुये उत्तर में बोले- भगवन् ! पाप कर्मों में प्रवृत्ति विषयों में आसक्ति होने से होती है । विषयों में आसक्ति का आधार मन ही है- कहा गया है-कि मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है । मन अत्यन्त चंचल है और प्रवृत्ति कारक हैं गीता में कहा गया है- कि मन नपुंसक होते हुये भी बड़ा उत्पाती है और मन अपना अवलम्बन खोजता रहता है । जैसे प्रकाश के अभाव में अन्धकार स्वत: फैल जाता है वैसे ही मन की भी प्रवृत्ति होती है । अत: मन की इस प्रकार की स्वयं फैलने वाली प्रवृत्ति को भगवत् सेवा में भगवद् भक्ति में भगवन्नाम स्मरण अथवा कीर्तन में लगा देनी चाहिये । जिससे मन निरालम्ब न रह सके । उसकी प्रवृत्ति पूर्णरूपेण चारों ओर से भगवद्व्यापार में ही रहे । या वह मन तदनुरूप भगवत् सेवा से सम्बन्धित सामग्री के संकलन में लग जाय अन्यत्र कहीं भी दुष्कर्मों में प्रवृत्त न होने पाये । यदि वह भगवद् भक्ति में नहीं लगेगा तो अपनी सहायक इन्द्रियों से सम्बद्ध होकर उन इन्द्रियों के अभिलषित विषयों में संसक्त होकर अनर्थ ही करेगा । यही मन की दुर्बलता है । यदि यह भगवद् भक्ति में संयुक्त नहीं होता है, तो इसके नियन्त्रण की कामना रखने वाले लोग अपनी वाणी, चक्षु, कान तथा हाथ पैरों को उस दिशा में प्रवृत्त न होने दें । परिणामत: यह चंचल और अस्थिर मन पंचेन्द्रियों के विरोध से कुछ भी करने में समर्थ नहीं हो सकेगा । हठपूर्वक चारों ओर घूमता हुआ भी विवश होकर पुन: एक स्थान पर लौट आयेगा । ऐसा भी है कि केवल वाणी, हाथ और पैर यदि नियन्त्रित हो जायँ तब भी यह मन कुछ नहीं कर सकेगा । यही मन के वश में करने का उपाय है । अन्यथा मन अपने चिन्तन किये हुये विषयों में यदि इन्द्रियों का सहयोग प्राप्त कर लेगा तो महान् पतन के गर्त में डूबो देगा । क्योंकि मन भगवत् आसक्त होकर ही मोक्षप्रद सिद्ध होगा ।

सर्वप्रथम मन की प्रवृत्ति विषयों के चिन्तन में ही होती है उससे वासना जगती है, फिर काम, क्रोध, सम्मोह, स्मृति विभ्रम एवं बुद्धिनाश आदि दुष्परिणाम प्राप्त होते हैं । यह बन्धन ही नरक में गिरा देता है और बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में डालता रहता है ।

श्रुतिरपि :- **''अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचिद् ।**
यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत् तत्कामस्य चेष्टितम् ॥''

बिना कामना के इस संसार में कोई भी क्रिया नहीं होती । भगवान ने सभी को ज्ञान शक्ति दी है जिसके द्वारा मनुष्य अपने हित और अहित का स्वयंविचार कर सकता है । विवेकशील मानव चिन्तन मनन करके स्वयं शास्त्रवर्णित साधनों को स्वीकार कर दुष्पक्ष से दूर होकर सन्मार्ग का अवलम्बन कर सकता है । भगवान के अवतार लेने का प्रयोजन भी यही है कि वे कुपथ में प्रवृत्त भक्त को अपनी कृपा की शक्ति से एवं अपनी सौन्दर्य शक्ति से उसका उद्धार करें ।

''त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।''
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत् ॥''

काम, क्रोध और लोभ ये तीनों ही नरक में पहुँचाने वाले द्वार हैं जीव को नष्ट करने वाले हैं, अतः इनका परित्याग करना चाहिये ।

जिज्ञासु ने पुनः आचार्य श्री से प्रश्न किया- क्या जीव में यह शक्ति है, कि वह इन सबका परित्याग कर सके ?

श्रीरामानन्दाचार्य जी ने कहा-क्यों नहीं । यदि ऐसा न होता तो भगवान गीता में यह उपदेश ही क्यों देते । भक्तों का उद्धार चाहने वाले भगवान स्वयं उसको इस प्रकार की शक्ति प्रदान कर देते हैं ।

जिज्ञासु ने पुनः कहा-सुना जाता है कि प्रारब्ध कर्मों के आधीन होकर विवशता के कारण ही व्यक्ति शुभ या अशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है अतः वह दोषी नहीं है ।

कहा गया है- सुख और दुःख का कोई अन्य व्यक्ति या अन्य शक्ति देने वाली नहीं है । मनुष्य अपने कर्मसूत्र में आबद्ध होकर ही सुख दुख प्राप्त करता रहता है । वह अपना हित एवं अहित जानता हुआ भी बलपूर्वक प्रारब्ध कर्म के द्वारा वह कार्य करने के लिये बाध्य कर दिया जाता है ।

जैसे आम बात का रोगी अम्ल वस्तु का सेवन करता है और चोर पुनः पुनः दण्डित किये जाने पर भी चोरी नहीं छोड़ता । हिंसक और लुटेरे मनुष्य का वध कर देते हैं, राहगीरों को लूट लेते हैं । दण्ड पाने के बावजूद भी इस कर्म को नही छोड़ते हैं । रानी के प्रेम में आसक्त कोई पुरुष अपने लिये मृत्यु दण्ड प्राप्त होगा ऐसा जानता हुआ भी उस कर्म में संसक्त रहता है । अतः बलपूर्वक कोई शक्ति उससे यह करा रही है । ऐसा ज्ञात होता है । कर्मानुसार वह उसका परिणाम भी भोगता है । अतः प्रारब्ध कर्मों के आधीन होकर ही वह ऐसा करता है उसमें स्वयं अपने को रोक लेने की शक्ति नहीं है और न ही भगवान में है । भगवान् उसको कुमार्ग में जाने से क्यों नहीं रोक देते ?

श्रीरामानन्दाचार्य जी ने कहा–भाईयों ! पहले विचार करो कि प्रारब्ध शब्द का क्या अर्थ है । 'प्रकर्षेण आरब्धम्' अर्थात् प्रसन्नता या सुख के लिये किया जाने वाला कर्म प्रारब्ध कहलाता है । मनुष्य उसी कार्य को करता है जिससे उसे सुख की प्राप्ति होती है उसकी प्रवृत्ति दुख देने वाले कर्मों में नहीं होती । अतः विचार करना है कि इनमें मानव की प्रवृत्ति होती कैसे है । यह कर्म सुखद है यह दुखद है इसका ज्ञान उसे कैसे होता है, अथवा उसमें प्रवृत्ति कैसे होती है ? अतः प्रवृत्ति कराने वाला भी कोई न कोई अवश्य है जो हमारा प्रभु है, ईश्वर है । अतः सिद्ध होता है कि प्रारब्ध कर्मों के करने में भी हम स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकते । अतः उन कर्मों के फल भोग के लिये फिर हम स्वयं कारण कैसे बन सकते हैं । अतः जब प्रारब्ध कर्म साक्षात् कर्म करने में प्रेरक नहीं बन सकते तो साक्षात् फल देने में हेतु कैसे बन सकते हैं । जो कर्म की प्रेरणा देने वाला ईश्वर है वही फल देने का भी हेतु है । भगवान ने ऐसा निर्धारण कर रखा है कि अच्छे या बुरे प्रारब्ध कर्मों का क्षय उनके फल भोग लेने से ही हुआ करता है इस कथन में श्रुति भी प्रमाण है-भगवान् उसी से अच्छे कर्मों को कराते हैं जिसे इन लोकों से ऊपर ले जाना चाहते हैं और उसी से बुरे कर्म कराते हैं जिसे नीचे ले जाना चाहते हैं । अतः भगवान् की इच्छा ही प्रवृत्ति में कारण है उसी प्रकार कर्मों के फल भोगने में भी भगवान् की इच्छा ही कारण है ।

अब यह विचार करना है कि भगवान की ऊपर ले जाने अथवा अधोगति की ओर मनुष्यों को ले जाने की इच्छा क्यों और कैसे होती है ?

इसको इस प्रकार समझिये जैसे किसी पिता के पाँच पुत्र हैं उनमें से एक को वह महान विद्वान बनाकर त्रिकाल दर्शी बना देता है । दूसरे को नीति विद्या में निपुण बनाकर न्यायाधीश के पद में बैठाना चाहता है किसी को अस्त्र शस्त्र निर्माण में निपुण बनाना चाहता है और एक पुत्र को देशो द्धारक सफल नेता के रूप में देखना चाहता है । परन्तु वह इन कार्यों में किसी भी कार्य को न्यून या महत्त्वपूर्ण नहीं मानता । समता और विषमता की भावना भी पुत्रों के प्रति उसकी नहीं है । वह तो अपने पुत्रों को सभी कार्यों में कुशल समस्त लौकिक उन्नतियों में श्रेष्ठ सभी क्षेत्रों में अग्रणी एवं संसार के सभी क्षेत्रों में अपने ही घर को प्रमुख देखना चाहता है । किसी भी कार्य के लिये या किसी भी उपलब्धि के लिये वह अपने को पराधीन नहीं देखना चाहता ।

इसी प्रकार भगवान भी अपने अंशभूत जीवों को अलग-अलग कर्मों में प्रवृत्त करना चाहते हैं । प्रारब्ध कर्म किसी को किसी कर्म की प्रेरणा नहीं देते ।

इसी प्रकार भगवान भी अपने अंशभूत जीवों को कर्म करने में प्रवृत्त करते रहते हैं प्रारब्ध कर्म किसी को प्रवृत्त नहीं करते और न ही मनुष्य जानबुझकर दुःखद कर्मों को करता है जानबुझकर तो सुखद कर्मों में ही प्रवृत्त होता है । किन्तु इन दुखद कर्मों में तो भगवान ही उसको प्रवृत्त करता है । भगवान ही प्रेरणा देता है, तदनुरूप उसकी बुद्धि को परिवर्तित करता है । जैसे माता अपने पुत्र को हित या अहित के ज्ञान हेतु शिक्षा दिलाना चाहती है । यद्यपि पढ़ना बालक के लिये दुखद है, किन्तु माता उसके भविष्यत्कालिक सुख के लिये उसे कष्ट देकर भी शिक्षित करना चाहती है तो क्या वह माता उलाहना देने योग्य कार्य कर रही है, कदापि नहीं । कोई माँ ऐसी नहीं है जो अपने पुत्र को विष खाने के लिये कहे किन्तु यदि बालक रोगी शरीर विष भक्षण से नीरोग एवं स्वस्थ बन सकता है, तो बलपूर्वक एवं आग्रहपूर्वक बालक को विष खिला ही देती है । माँ की प्रवृत्ति विष खिलाने में नहीं वरन् रोगोपशमन में है । इसी प्रकार भगवान की प्रवृत्ति अपने जीव के हित साधन में ही है । अतः भगवान ही जीवों को वैसा करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं, प्रारब्ध कर्म नहीं ।

यदि कर्म करने में प्रारब्ध कर्मों की प्रेरणा मानी जाय तो सम्पूर्ण विधि वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे । मनुष्यों में भी स्वच्छन्दता, उच्छृंखलता एवं यथेच्छाचारिता तथा निर्भयता फैल जायेगी । इस संसार में सब कुछ ईश्वर की ही इच्छा से हो रहा है । इसकी मान्यता भी बाधित हो जायेगी । पाप परायण व्यक्तियों को ही दुख, दरिद्रता, अपयश एवं स्त्री पुत्रादि के विनाश की बाधायें सताती हैं, अत: पापों की प्रवृत्ति से दूर रहें । इस प्रकार के निषेध वाक्यों का महत्त्व भी बाधित हो जायेगा । अत: स्वयं जड़ीभूत प्रारब्ध कर्म चैतन्य की तरह कैसे प्रेरित करने के लिये प्रवर्तित हो सकते हैं । अत: मनुष्य की विषयों के प्रति आसक्ति या लोलुपता ही पाप का कारण है प्रारब्ध कर्म नहीं । गीता में भी वर्णित है- कि किसकी प्रेरणा से मनुष्य पाप कर्म करता है ? इसके उत्तर में भगवान कहते हैं- कि पाप कर्मों की प्रेरणा देने वाले ये रजोगुण से उत्पन्न काम और क्रोध हैं । अत: विषया सक्ति ही पाप कर्मों का हेतु है । पापाचार, व्यभिचार एवं चोरी आदि में सर्वत्र आसक्ति ही कारण है ।

आसक्ति भी दो प्रकार की होती है- शुभ एवं अशुभ । किन्तु यह अपरिवर्तनीय नहीं है । शुभासक्ति जो सत्संग, भगवत्कथालाप एवं भगवद्दर्शन आदि से बढ़ती है और फल देने वाली बनती है । उसी प्रकार अशुभ आसक्ति भी कुसंग में अभिरूचि होने से बढ़ती है । अत: अशुभ आसक्ति को शुभ आसक्ति के द्वारा काट देना चाहिये और शुभ आसक्ति का संवर्द्धन करना चाहिये । भगवदभिरूचि पुण्यफल को बढ़ाने वाली है । अत: सदैव स्वाध्याय सत्संग आदि में प्रवृत्ति रखनी चाहिये । एक क्षण का भी समय व्यर्थ में व्यतीत नहीं करना चाहिये । क्योंकि एक क्षण के सत्संग की तुलना स्वर्ग अथवा मोक्ष नहीं कर सकते अत: अपना अमूल्य समय सत्संग में बिताना चाहिए ।

सभी के द्वारा प्रार्थित श्रीरामानन्दाचार्य ने कहा- यहाँ भी आप लोगों की इच्छानुरूप पादुका आदि की प्रतिष्ठा आवश्यक नहीं है । यहाँ तो स्वयं भगवान लक्ष्मीनारायण ने ही अपना मन्दिर, मठ बनाया है । आपके सम्प्रदाय के प्रचार प्रसार के लिये महाविद्यालय वेदान्त विद्यापीठ में भी पादुका स्थापन निश्चित हो गया था किन्तु अब वह काल सापेक्ष है भविष्य के गर्भ में स्थित है ।

उस कार्य को भी अपनी शिष्य परम्परा से आया हुआ कोई प्रसिद्ध विद्वान् सम्पन्न करेगा ।

वहीं स्थान श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर के नाम से पुकारा जायेगा । तथा वहीं पर वह भारत प्रसिद्ध विद्वद् वरेण्य वेदान्त विद्यापीठ की भी स्थापना करेगा, किन्तु वह अपने मनोरथ रूपी कल्प वृक्ष को फूलते हुये देखने में समर्थ नहीं हो सकेगा ।

कालान्तर में यहाँ तीन मठों का एकाधिपत्य होगा जिनके नाम होंगे- सींगड़ा मठ, कोसलेन्द्र, मठ एवं वेदान्तमठ । यही मेरी भविष्यवाणी है ।

चालीसवाँ परिच्छेद

महर्षि कपिल के आश्रम से चलकर श्रीरामानन्दाचार्य जी मार्ग के मध्य में मिलने वाले प्रत्येक नगर एवं प्रत्येक ग्राम में जहाँ-जहाँ रूके या विश्राम किया, वही-वहीं विधर्मियों दुष्ट यवनों की सत्ता के कारण विलुप्त होती हुई हिन्दुओं की सदाचार भावना एवं धार्मिक भावना को सनातन धर्म के महत्त्व का वर्णन कर पुनः जागृत करते हुये एवं भगवद्भक्ति का प्रचार प्रसार करते हुये पाखण्डों का खण्डन करते हुये आचार्य श्रीदेवगिरि (अर्बुदा चल) माउण्ट आबू की ओर चल पड़े । जगह-जगह पर मार्ग के मध्य में आये हुए स्थानों पर और सत्संग के पुनीत अवसर पर अपने धार्मिक प्रवचनों में एकत्रित हुए धार्मिक लोगों के मन में सुदृढ़ भागवत धर्मानुसारिणी जागृति और भगवद्भक्ति का विस्तार करते हुए स्वामी जी अर्बुदाचल पर्वत की ओर बढ़ रही ही रहे थे कि उसी समय उनकी भेंट एक जैन भिक्षु से हुई । भगवत् चिह्नों से चिह्नित विशाल ऊर्ध्वपुण्ड से सुशोभित एवं श्रीराम नाम संकीर्तन से गुंजित उनके मण्डल को देखकर अपने कुटिल कुतर्कों से कलुषित अन्तःकरण वाला वह जैन भिक्षु मन्द-मन्द हँस रहा था, और अपने साथियों से उनकी अनुचित आलोचना कर रहा था । जिस समय स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी विविध सनातन धर्मावलम्बी वैष्णवों को अपने प्रवचनामृत के पान से सन्तृप्त कर रहे थे उसी समय वह दुष्ट हृदय वाला भिक्षु आचार्य श्री की सनातन धर्म सभा में अपनी वाचालता प्रकट करता हुआ वेदों की निन्दा करने लगा और कहने लगा-

इससे अधिक आश्चर्य की और बात हो ही क्या सकती है कि आप जैसे विद्वान् महात्मा भी वेद आदि में श्रद्धा रखते हैं, उन्हें प्रामाणिक मान उद्धरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

क्या आपको यह भी ज्ञात नहीं है कि तीनों वेदों के रचनाकार भांड धूर्त्त राक्षस ही थे । अतः वेदों को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना श्रद्धालु समाज को भ्रम में (धोखे में) रखना है । आप सत्पथ से समाज को विचलित कर रहे हैं । भोले भाले लोगों को अपनी प्रवचन चातुरी से मोहित

कर महान् अन्धकार के गर्त्त में गिरा रहे हैं । जैसे एक अन्धा व्यक्ति कुछ अन्य अन्धे लोगों का पथ प्रदर्शन कर रहा हो ।

इसी प्रकार आप स्वयं भ्रान्ति के घने अन्धकार में निमग्न हैं तथा अपने अनुयायियों को भी अन्धकार में लिये जा रहे हैं । तो फिर आपका दण्ड धारण करना तथा काषाय (भगवा) वस्त्र पहिनना व्यर्थ ही है । अतः आप इस सबका परित्याग कर 'अर्हन्' की उपासना कीजिये । सभी को एकमात्र अर्हन की ही शरणागति प्राप्त करनी चाहिये । ये सभी वेदादिशास्त्र भ्रान्तिमूलक हैं, इनको छोड़ दीजिये ।

जैनभिक्षु के अज्ञानपूर्ण एवं अपराधपूर्ण ये वचन सुनकर सम्पूर्ण साधुमण्डली के सन्त एवं महन्त सहसा क्षुब्ध एवं क्रुद्ध हो उठे । सभी ने जैन भिक्षु के धिक्कारते हुये उसकी निन्दा की । जब साधु मण्डली की क्रोध का पारा बहुत ऊँचे चढ़ गया, तब श्री रामानन्दाचार्य जी ने अपनी मधुर वाणी से उनको शान्त किया । तदनन्तर आचार्य श्री जैन भिक्षु को सम्बोधित करते हुये बोले-

श्रीरामानन्दाचार्यः भगवन् ! आपने जो कुछ कहा उससे ज्ञात होता है कि अज्ञान रूपी महामोह से आपका विवेक पूर्णरूपेण लुप्त हो गया है । समस्त शास्त्रों की उपेक्षा करते हुये आपने अपनी मूर्खता का ही परिचय दिया है । ये आपके वाक्य नितान्त उपहासास्पद हैं । किन्तु इसमें आपका तनिक भी दोष नहीं है । यह स्वाभाविक एवं प्राकृतिक नियम है कि तीव्र प्रकाश को सम्पूर्ण भुवनमण्डल में प्रकाशित करने वाले भगवान भास्कर के रहते हुये भी उल्लू को कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता । आपके मन में अज्ञान रूपी अन्धकार का साम्राज्य छाया हुआ है । यही कारण है कि आपके ये चर्म चक्षु वेदरूपी सूर्य के प्रकाश को देखने में असमर्थ हो रहे हैं । पाखण्ड का प्रचार-प्रसार करते-करते उसके प्रवाह में आपका समस्त ज्ञान-विज्ञान बह गया है । सत्यरूपी चरण कट जाने से आपकी दुर्गति लंगड़ी हो गयी है । जैसे आपकी मति कुण्ठित हो गयी है वैसे ही आपकी तत्वचिन्तन शक्ति भी कुण्ठित हो गयी है इसलिए आप सत्य सनातन धर्म के रहस्य को नहीं समझ पा रहे । हमारे इस वेशभूषा का तिलक धारण करने का एवं दण्ड धारण का क्या महत्त्व है इससे आप अपरिचित हैं । अज्ञानरूपी ऊष्मा से विलुप्त हो

गयी है दर्शन शक्ति जिसकी दर्पण की तरह कुहरे से ढके लोक की तरह कुछ भी देखने में समर्थ नहीं है कुछ भी नहीं समझ सकते हैं ।

अत: ज्ञान की प्राप्ति से विमुख आपकी मति उसी लोमड़ी की भाँति आचरण कर रही है, जैसे कि वह ऊँची डाल पर लगे हुये स्वादिष्ट मधुर द्राक्ष फलों को नितान्त खट्टे बताकर वहाँ से पलायन कर गयी थी । इस समय आपकी स्थिति वैसी ही अज्ञान से युक्त है ।

वह जैनभिक्षु भी मन्त्र एवं औषधियों से निरुद्ध पराक्रम वाले सर्प की भाँति कुछ भी उत्तर देने में असमर्थ होकर केवल कुतर्क का आश्रय ग्रहण करता हुआ बोला-भगवन् ! **'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ'** इस वेद मन्त्र में स्पष्ट रूप से सपत्नीक विष्णु भगवान् की स्तुति की गयी है । तो जो व्यक्ति स्त्री पराधीन है वह भला सृष्टि का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? क्योंकि स्त्री साक्षात् माया है । उसके आश्रय से ज्ञान विज्ञान समाप्त हो जाता है और ऐसा स्त्रैण (स्त्री भक्त) पूरे विश्व का नियामक एवं अधीश्वर कैसे हो सकता है ?

यह सुनकर मन्दहास्य करते हुये श्रीरामानन्द जी ने उत्तर दिया-आपकी बुद्धि में आपकी मानसिक कल्पना में हमारा ईश्वर जैसा है, वैसा कदापि नहीं है । वह कभी माया का दास नहीं बनता, न कभी माया की अधीनता को ही स्वीकार करता है । वह तो साक्षात् माया का पति है । माया ही उसकी दासी है । माया सदा मायापति की सेवा में संलग्न रहती है । माया उसके समक्ष एक नर्त्तकी के समान है वह ईश्वर के संकेत पर नाचती रहती है ।

माया भगवान् की शक्ति है । शक्ति और शक्ति मान में कभी भेद नहीं हुआ करता । शक्ति शक्तिमान को छोड़कर कभी नहीं रह सकती । शक्तिमान की उपस्थिति में शक्ति ही सब कुछ किया करती है । शक्ति ही सर्वत्र व्याप्त है । उसके बिना संसार में कोई भी अपनी सत्ता स्थापित नहीं कर सकता । जैसे आपके शरीर में शक्ति है तभी आप कुछ करने, चलने, बोलने एवं खाने पीने में समर्थ हो रहे हैं अन्यथा कुछ भी नहीं कर सकते ।

प्राणियों का शरीर पूर्णरूप से शक्ति के ही आधीन है । किन्तु भगवान ऐसे नहीं हैं । वे शक्ति के अधीश हैं । शक्ति जीव के ऊपर शासन

करती है जब कि ईश्वर शक्ति का शासक है । इसी प्रकार शक्ति या स्त्री के सहित भगवान को छोड़कर अन्य कोई इस जगत का नियामक नहीं हो सकता । एकमात्र भगवान ही सर्वशक्तिमान हैं, अन्य कोई नहीं वही सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है, सब कुछ करने एवं न करने में समर्थ है । उससे भिन्न अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान एवं आनन्दविहीन जीव है । वह कभी ईश्वर नहीं हो सकता ।

जैन सिद्धान्त में यह धारणा निर्मूल एवं निराधार है कि उच्च कर्मों के करने से जीव भी ईश्वर हो सकता है । अल्पज्ञ जीव किसी भी प्रकार के उच्च कर्म करता हुआ भी भगवान नहीं हो सकता । उच्चकर्मों से उसे भगवद् प्राप्ति अवश्य हो सकती है किन्तु स्वयं वह भगवान् नहीं हो सकता ।

जैन शास्त्रों में भी कर्म दो प्रकार के बतलाये गये हैं- 'घातिकर्म' एवं 'अघातिकर्म' । किन्तु इन दोनों में यह शक्ति नहीं है कि ये जीव में सर्वज्ञता का संचार कर सकें । दोनों प्रकार के कर्मों को करने वाला साधक या सिद्ध सर्वज्ञ हो जाता है, ऐसा उल्लेख कहीं भी नहीं है । इस प्रकार जैन भिक्षु के प्रश्नों का समुचित उत्तर देते हुये उसका समाधान एवं मनस्तोष करने के पश्चात् जैन भिक्षु की प्रार्थना पर उसे कुछ और सदुपदेश देकर 'माउण्ट आबू' के सेवन करने हेतु आचार्य श्री ने प्रस्थान किया ।

क्रमशः मार्ग में मिलने वाली दर्शकमण्डली को भक्ति भावयुक्त दर्शन प्रवचन एवं प्रश्नों के उत्तर देकर सन्तुष्ट करते हुये, सनातन धर्म सम्बन्धिनी सदाचार परम्परा का उद्घोष करते हुये, भगवच्चरणारविन्दों में अनुरक्ति का पोषण करते हुये दुर्जन, कुकर्म एवं कुसंग से उत्पन्न होने वाल भगवद् विमुखता से दूर रहने की शिक्षा देते हुये, एक वन से दूसरे वन में प्रवेश करते हुये, गिरि नदी एवं नदों की शोभा को देखते हुये सर्वदा फलों और फूलों से सुशोभित अनेक प्रकार के पक्षियों की क्रीड़ा से विलासित प्राकृत वैभव से विभूषित मार्ग की शोभा को देखते हुये धीरे-धीरे अपनी मण्डली के साथ ही रामानन्दाचार्य जी अर्बुद पर्वत के समीप पहुँच गये ।

आचार्य श्री आबू पर्वत के चारों ओर स्थित महर्षि जनों के आश्रमों को देखकर सन्तुष्ट हुये । चारों ओर गगन चुम्बी देव मन्दिरों एवं निश्चल समाधि में बैठे ब्रह्मानन्द में निमग्न महर्षियों को गुफा के भीतर प्रत्यक्ष देखकर प्रसन्न हुये । कुछ समय तक वहीं रूकने की इच्छा से भी वशिष्ठाश्रम से कुछ दूर स्थित 'नक्खी' सरोवर पहुँचकर वहाँ ठहरने का निश्चय किया ।

उस समय वहाँ प्रसिद्ध गुण कीर्ति वाले श्री "मिलिन्दसूनु" नामक एक तपस्वी महात्मा निवास करते थे । वे सदैव श्रीरामचन्द्र जी के चरणारविन्दों की सुधा का सेवन करते हुये परमात्मा की उपासना में निरत रहते थे, तथा श्री सौकल्य महर्षि के शिष्य थे ।

श्री सौकल्य महर्षि भगवान श्री रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त थे । उनके अन्त:करण के विशुद्ध भाव को जानकर श्रीरामचन्द्र जी ने उनको अपने चरणों की शरण में ले लिया और उनके मनोरथों की पूर्ति के लिये स्वयं प्रकट होकर साक्षात् दर्शन सुख प्रदान कर परम सौभाग्यशाली बना दिया ।

श्रीसीता माता के साथ प्रभु का दर्शन कर महर्षि गद्गद् हो गये । स्नेहाधिक्य से नेत्रों में आँसू छलक पड़े और चाहकर भी स्तुति नहीं कर सके । अपने मस्तक को उनके चरण कमलों में रख दिया । भगवान ने स्वयं उन्हें उठाकर अपने गले से लगा लिया और अपना सुखद एवं वरद हस्तकमल उनके सिर पर रख दिया ।

भक्त प्रवर सौकल्य मुनि उसी स्वरूप में भगवद्दर्शन की आकांक्षा से सर्वदा उसी कुटीर में स्थित रहे । उन्होंने यही प्रार्थना की कि इस कुटी में सदैव प्रभु मुझे ऐसा ही दर्शन देकर अनुगृहीत करते रहे । भगवान सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्र जी एवमस्तु कह कर अपने उसी विग्रह स्वरूप में वहीं स्थित हो गये । जीवन भर महामुनि सौकल्य श्री कौशिल्या नन्दन की सेवा करते हुये अन्त में भगवान के सायुज्य लोक को प्राप्त हुये । उनके शिष्य श्री मिलिन्द सूनु भी सदैव प्रभु की स्वरूप उपासना में निरत रहे ।

आबू पर्वत पर आज भी भक्त प्रवर सौकल्य महर्षि के तप के फलस्वरूप उनके शिष्य मिलिन्द सूनु के भक्तिभाव का प्रतीक श्री सर्वेश्वर रघुनाथ नाम से प्रसिद्ध उनके उपास्यदेव की विग्रहभूत वह मूर्ति भक्तजनों के मनोरथों को पूर्ण करने के लिये विराजमान है ।

वहाँ पर आकर श्रीरामानन्दाचार्यजी ने भक्त शिरोमणि श्रीसौकल्य महर्षि के द्वारा निर्मित स्वल्पकाय पर्णकुटीर में विराजमान भक्तपराधीनत्व प्रदर्शित करने के लिए ही अपने स्वरूप के अनुरूप स्थल में भी विशाल महल में न होने वाले ललित-चरित्रों को प्रदर्शित करने वाले श्रीरघुनाथजी का सानन्द अश्रुपुरित नेत्रों से दर्शन किया ।

उसी समय श्रीरघुनाथजी के दर्शन करते ही अपनी भावना से भावित अन्त:करण वाले श्रीरामानन्दाचार्यजी ने सर्वसाधन सम्पन्न भगवत् सेवा के ही लिये धनोपार्जन करने वाले परम भागवत भक्त जनों को उस स्थान में एक विशालकाय मन्दिर के निर्माण हेतु अपनी अभिलाषा के रूप में आदेशित किया। मन्दिर निर्माण का कार्य शीघ्र ही प्रारम्भ हो गया। उनकी इच्छानुसार शीघ्र ही भगवान का मन्दिर बनकर तैयार हो गया। उस नवनिर्मित मन्दिर में विधिपूर्वक भगवान श्रीरघुनाथ जी की स्थापना करायी गयी। वह मन्दिर आज भी अर्बुदाञ्चल में स्थित है। तथा उनकी सेवा उसी प्रकार तब से अब तक चल रही है। समय-समय पर तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन परिवर्द्धन एवं ह्रास भी होता रहा। किन्तु उस समय आचार्य श्री की प्रेरणा से समस्त लोगों के उपकार के लिये भक्ति गंगा का प्रवाह वहाँ अधिक रूप में प्रवाहित हुआ था। सर्वसाधारण लोगों के लिये भी सत्संग का अवसर उन्होंने सुलभ करा दिया था।

एक बार सत्संग समारोह में जब आचार्य श्री समुन्नत एवं सुसज्जित सिंहासन पर विराजमान थे, तथा सभी भक्त प्रवर शिष्य प्रवर एवं विद्वन्मूर्धन्य उपस्थित थे। उस समय किसी प्रश्नकर्त्ता जिज्ञासु महात्मा के होंठ फड़के अर्थात् वे कुछ पूँछना चाह रहे थे किन्तु आचार्य श्री के तेज से हतप्रभ होकर कुछ भी बोल नहीं सके और मौन धारण कर बैठ गये। तब आचार्य श्री ने श्रीसुरसुरानन्द नामक योग्य शिष्य के हार्दिक भाव को जानकर सम्बोधित करते हुये बोले- वत्स ! अपनी जिज्ञासा को मन में ही क्यों छिपाये बैठे हो? दूसरे महात्मा जी भी कुछ सुनना चाहते हैं और तुम्हारे मुख की ओर इसी उद्देश्य से निहार रहे हैं। अत: जो इच्छा हो निर्भय नि:शंक होकर पूँछो।

ऐसी आज्ञा मिल जाने पर नम्रता पूर्वक प्रणाम करते हुये श्री सुरसुरानन्द ने प्रश्न किया। यहाँ उपस्थित सभी वैष्णव श्रेष्ठ परमहंस महात्मा लोग आपके मुखारविन्द से झरने वाले उपदेशामृत के पिपासु हैं और प्रार्थना करते हैं कि कृपया श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के आधार पर विस्तारपूर्वक आचार्य श्री उपदेश दें। सभी के दस प्रश्न है-

१. इस संसार में तत्त्व क्या है ? २. वैष्णव लोगों को किस मन्त्र का जप करना चाहिये। ३. अथवा किसका ध्यान करना चाहिये ? ४. मुक्ति का श्रेष्ठतम साधन क्या है ? ५. सर्वश्रेष्ठ धर्म क्या है ? ६. वैष्णव कितने

प्रकार के होते हैं ? ७. वैष्णवों के लक्षण क्या है ? ८. वैष्णवों को कहाँ निवास करना चाहिये ? ९. समय का यापन किस प्रकार करना चाहिये ? १०. मोक्ष के लिये किस प्रकार के साधन का अनुष्ठान करना चाहिये ?

इस प्रकार प्रिय शिष्य द्वारा श्रोता जिज्ञासु एवं महात्माओं के लिये मार्मिक और वैष्णवों के लिये नितान्त आवश्यक एवं ज्ञातव्य प्रश्नों को सुनकर आचार्य श्री अत्यन्त आनन्दमग्न होते हुये सभी को धन्यवाद दिया तथा प्रश्नों का समाधान देने के लिये तत्पर हो गये । आचार्य श्री ने कहा-

हे जिज्ञासु भगवद्भक्तों ! पहले तो यही जान लेना चाहिये हम लोग वैष्णव हैं तो हमारा साम्प्रदायिक सिद्धान्त कौनसा है, और क्या है ? हमारा सम्प्रदाय किस नाम से जाना जाता है ।

हमारा यह सम्प्रदाय विशिष्टाऽद्वैत सम्प्रदाय है । विशिष्टा द्वैत का अर्थ है- कारण ब्रह्म एवं कार्य ब्रह्म दोनों की एकता । कारण ब्रह्म तो सूक्ष्म चिद् अचिद् से विशिष्ट है सूक्ष्म चिद् रूप जीव है । सूक्ष्म अचिद् रूपा प्रकृति है सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म ही कारण ब्रह्म है । स्थूल चिद्रूप जीव स्थूल अचिद्रूप प्रकृति इस प्रकार उभय विशिष्ट अर्थात् स्थूल चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म ही कार्यब्रह्म है ।

विशिष्ट माने विशेषण युक्त तत्त्व । ऐसा विशेषण रूप तत्त्व विशेष्य के अधीन होता है । बिना विशेष्य के विशेषण की स्थिति होती ही नहीं है । जैसे अपने आधारभूत वृक्ष के बिना फलों की स्वतन्त्र स्थिति सम्भव नहीं है । उसी प्रकार जो चित् तत्त्व जीव है और जो अचित् तत्त्व रूपी प्रकृति है, ये दोनों ही अपने आधारभूत ब्रह्म के बिना स्वतन्त्र रूप से स्थित नहीं रह सकते । चिद् जीव है अचित् प्रकृति है, इन दोनों विशेषणों से युक्त ब्रह्म एक ही है । इसलिये यह सिद्धान्त विशिष्टा द्वैत नाम से प्रसिद्ध है ।

कारण एवं कार्य के भेद से ब्रह्म दो प्रकार का है । काल भेद से ब्रह्म में द्विविधता की प्रतीति होती है । जैसे प्रलयकाल और सृष्टिकाल । प्रलय काल में सूक्ष्म चित् रूपी जीव एवं सूक्ष्म अचिद् रूपी प्रकृति ये दोनों सूक्ष्म चित् और अचित् ब्रह्म में निलीन अथवा स्थित हो जाते हैं । तब ही ब्रह्म कारण ब्रह्म के नाम से व्यवहृत होने लगता है । सृष्टि के समय जब वहीं स्थूल चिद् रूप तत्त्व जीव और स्थूल अचिद् रूपा प्रकृति दोनों तत्त्व

ब्रह्म से अतिरिक्त स्थित हो जाते हैं तब वही ब्रह्म कार्य ब्रह्म के नाम से अभिहित होता है ।

अब यह शंका उपस्थित होती है कि क्या ब्रह्म दो हैं ? नहीं- चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म तो एक ही है, दो नहीं है । किन्तु उस एक ही ब्रह्म का काल भेद के कारण भेद सा प्रतीत होता है । जैसे वट वृक्ष अपने बीज रूप में सूक्ष्म रूप से स्थित होता है बाद में वही बीज अपने अनुकूल खाद, पानी एवं ऊर्वरा भूमि प्राप्त कर लेने पर अंकुरित होकर क्रमशः वृक्ष बन जाता है । सूक्ष्म रूप से स्थूल रूप में प्रकट हो जाता है । इसी प्रकार सृष्टि के समय में सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म ही स्थूल रूप को प्राप्त हो जाता है और प्रलय में सूक्ष्म रूप को प्राप्त हो जाता है । जैसे एक ही पुरुष जब राजस्थान में रहता है तब वह राजस्थानी कहा जाता है और वही जब उत्तराखण्ड में रहने लगता है तब उसे उत्तराखण्डवासी कहने लगते हैं । पुरुष तो एक ही है किन्तु स्थान भेद उसमें भिन्नता दिखाई पड़ रही है । इसी प्रकार ब्रह्म है । प्रलय में उसे कारण ब्रह्म कहते हैं । सृष्टि में उसी को कार्य ब्रह्म कहते हैं ।

इस प्रकार काल भेद को लेकर भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाला ब्रह्म वस्तुतः अभिन्न है कार्यब्रह्म और कारण ब्रह्म का अद्वैत अर्थात् एकत्व । सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट कारण ब्रह्म इन दोनों का एकत्व ही विशिष्टाद्वैत है इसी प्रकार कारण कार्य ब्रह्माद्वैत, सूक्ष्मस्थूलचिदचिद् विशिष्ट ब्रह्माद्वैत और विशिष्टाद्वैत ये तीनों नाम एक ही हैं एक ही सिद्धान्त के तीन नाम हैं ।

अब विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त के तत्त्वों का वर्णन

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में तीन तत्त्व है चिद्, अचिद् और ईश्वर ये तीन तत्त्व ही सृष्टि में प्रधान हैं ।

चित्तत्व- चित् तत्त्व क्या है ? चित् का अर्थ है चेतन तत्त्व । उसमें चेतना है अतः वह ज्ञान का आश्रय है । इसीलिये चेतन को जीव कहते हैं । जीव का स्वरूप नित्य है एवं चेतन है । जीव अजन्मा है आदि मध्य अन्त से रहित है । प्रत्येक शरीर में अलग-अलग है बद्ध और मुक्त दोनों है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है । ईश्वर की अपेक्षा जीव अल्पज्ञ है, अस्वतन्त्र है (भगवान के आधीन है) कर्त्ता भोक्ता और अहन्ता का अभिमानी है ।

अचित् तत्त्व- अचित् प्रकृति है । भगवान की माया इच्छा शक्ति ज्ञान शक्ति एवं क्रियाशक्ति स्वरूपा है । किन्तु वह माया भगवान से भिन्न है । स्वभावत: अचेतन है जड़ है । अत: ज्ञानाश्रयस्वरूपा नहीं है इसीलिये उसको अचित् कहा गया है । सांख्य सिद्धान्त में इसी को प्रकृति कहा गया है । जो अजन्मा है लोहित और शुक्लादि के भेद से विविध वर्ण वाली है अनेक प्रकार की प्रजा की सृष्टि करने वाली है उसको हम लोग नमस्कार करते हैं यह सत्त्व, रज तमोगुण विशिष्ट है । अव्यक्त है । स्वतन्त्र रूप से कार्य करने में सक्षम नहीं है । ईश्वराधीन है । सृष्टि की कारणभूत है । महत् आदि तत्त्वों को उत्पन्न करने वाली है । अहं तत्त्वादि की कारणभूत है । पूर्णरूपेण भगवान की माया भगवान के आधीन अर्थात् परतन्त्र है।

३. ईश्वरतत्त्वम् (ब्रह्म) ईश्वर एक है । प्राकृत गुणों से रहित होने के कारण ही उसे निर्गुण कहते हैं । देशकाल मर्यादा आदि के आवरण से रहित है । सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है । प्रकाशात्मक है, आनन्द एवं ज्ञान स्वरूप है । समस्त कल्याणकारी गुणों से युक्त होने के कारण ही वह सगुण भी कहा जाता है । संसार को उत्पन्न करने वाला पालन करने वाला एवं संहार करने वाला है । परम कारुणिक है भक्त वत्सल है, सभी का आधार है, चतुर्वर्ग फल प्रदाता है । नित्यों का भी नित्य एवं चेतनों का भी चेतन है । अजर-अमर-निष्पाप, सर्वदेशीय, सर्वान्तर्यामी, सम्पूर्ण चराचर का नियन्ता, श्री जानकीपति श्रीराम नाम से अभिहित है । ये प्रभु श्रीराम ही सदैव सबके लिये अपनी करुणा कृपा को भिन्न-भिन्न रूप से वितरित करते रहते हैं । जैसे अज्ञानियों को ज्ञान, निर्बलों को शक्ति, अपराधियों को क्षमा, दुखियों को दया, मन्द जनों को शील, कुटिलों को सरलता, दुष्टों को सौहार्द, भयभीत जनों को निर्भयता, एवं दर्शनाभिलाषी योगियों को अपने दर्शन ।

परस्वरूपम्- उस ईश्वर को **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** अर्थात् अणु से भी सूक्ष्म (छोटा) और महान से भी महतत्त्वम् कहा जाता है । वह छोटा से भी छोटा है और बड़ा से भी बड़ा है । "अपाणि पादो जवनोग्रहीता' बिना हाथ और पैर के भी वह वेगवान है सर्वत्र जाने में समर्थ है । 'न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते' अर्थात् न तो कोई उसके समान ही दिखाई पड़ता है और न ही उससे अधिक । सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात् अर्थात् वह ईश्वर अगणित सिरों वाला, अगणित आँखों वाला तथा अगणित पैरों

वाला है । कहीं उसे द्विभुज कहा गया है कहीं चतुर्भुज भी कहा गया है । श्रुतियों, स्मृतियों एवं पुराणों में विरुद्धधर्माश्रयस्वरूप अर्थात् सभी विरोधी धर्म एक साथ जिसमें विद्यमान हों वह ईश्वर है यह भी कहा गया है । कोटि कन्दर्प लावण्य, परमानन्द विग्रह, कोटि सूर्य प्रतीकाशम् कोटिचन्द्र सुशीलतम वह ईश्वर अनन्त दिव्य गुणों से युक्त एवं दिव्य मंगल विग्रह है । इस प्रकार के दिव्य गुण विशिष्ट, नित्य जीवों से परिवेष्टित, समस्त अणिमादि विभूतियों से विभूषित, षड्ऐश्वर्यों से सम्पन्न, वामभाग में विराजित श्रीसीता जी से सुशोभित, नित्य श्री नित्यमंगलमय श्री नित्य साकेत धाम में विलासित भगवान का श्री विग्रह ही पर स्वरूप है । सनत्कुमार संहिता में कहा गया है कि-

श्री राम ही सत्य है, पर ब्रह्म है उनके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं । श्रीराम तापिनी उपनिषद में कहा गया है कि जो श्रीरामचन्द्रजी हैं वही भगवान् हैं भूर्भुवः और स्वः से सर्वथा परे जो परतत्त्व ब्रह्म है वही श्रीरामजी हैं जैसे श्रीरामजी को नमस्कार हो ।

(सनत्कुमार संहितायाम् :-) **''रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात्किञ्चिन्न विद्यते ।''**

(श्रीरामतापनी श्रुति) **''यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यत्परं ब्रह्म-भूर्भुवः स्वस्तम् वै नमो नमः ।''**

किञ्च :- **स्थूलमष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैवचतुर्भुजम् ।**
द्विभुजं तु परं प्रोक्तं रूपमाद्यमिदं हरेः । इति ।

अष्टभुज वाले स्थूल, चार भुजा वाले सूक्ष्म एवं द्विभुजधारी भगवान को ही परस्वरूप कहा गया है द्विभुजस्वरूप ही आद्य स्वरूप है ।

व्यूह स्वरूपम्- ईश्वर का व्यूह स्वरूप जगत् की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय के लिये, भूमि का भार उतारने के लिये और अपने चरण कमलों में भ्रमर के समान सदैव रसपान हेतु लालायित रहने वाले भक्तों की मनोरथपूर्ति के लिये है-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

उक्तञ्च- **''चतुर्विधः स भगवान् मुमुक्षूणां हिताय वै ।** किञ्च :-
''षण्णां युगपदुन्मेषाद् गुणानां स्वप्रपञ्चोदितान् ।

अनन्त एव भगवान् वासुदेवः सनातनः ॥''

सज्जनों की रक्षा, दुष्टों के विनाश एवं धर्म की संस्थापना के लिये मैं प्रत्येक युग में अवतार ग्रहण करता हूँ। इसके अनुसार प्रतियुग में भगवान प्रकट होते हैं। जैसे द्वापर में संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युन एवं अनिरुद्ध के रूप में चतुर्व्यूह माना गया है। त्रेता में श्रीराम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न के रूप में चतुर्व्यूह बना है। अत: अपने भक्तों के अभीष्ट की सिद्धि तथा सभी के उद्धार हेतु वे प्रतियुग में प्रकट होते हैं।

भगवान वासुदेव (श्रीकृष्ण) में ऐश्वर्य, श्री, यश, वीर्य्य, ज्ञान एवं वैराग्य इन छ: ऐश्वर्यों की सार्वकालिक स्थिति देखने को मिलती है किन्तु शेष तीन में गुणों की न्यूनता रहती है। जैसे संकर्षण में मात्र ज्ञान और बल है। प्रद्युम्न में ऐश्वर्य एवं पराक्रम है तथा अनिरुद्ध में शक्ति और तेज है। सभी गुणों की स्थिति नहीं है। भगवान का अर्थ ही है कि जहाँ उपर्युक्त भग (छ: गुण) पाये जाते हों वहीं भगवान पद से अभिहित हो सकते हैं। इसी प्रकार त्रेता में श्रीरामचन्द्र जी में पूरे छ: गुण प्राप्त होते हैं लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न में अपेक्षाकृत गुणों की न्यूनता है।

किन्तु यह सिद्धान्त सार्वदेशिक नहीं है। आचार्य गण तो भगवान श्रीराम एवं श्रीकृष्ण को 'परस्वरूप' ही मानते हैं। व्यूहात्मकता तो तीन में ही है। त्रेता में श्री लक्ष्मण आदि में एवं द्वापर में श्री संकर्षण आदि में। अपने अवतार की स्थिति में 'व्यूह' के चतुर्थ संख्या की पूर्ति में भी अपनी लीलाओं में भगवान श्रीराम एवं श्रीकृष्ण ने लोकरंजन के अवसर में अथवा प्राणेश्वरी के परित्याग के अवसर में स्थान-स्थान पर प्रदर्शित की है। क्योंकि परात्पर प्रभु युग के अवतार के प्रयोजन की पूर्ति भी स्वयं किया करते हैं। अत: चतुर्व्यूहत्व में भी बाधा नहीं पड़ती।

विभवस्वरूप:- अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार समय-समय में या प्रत्येक गुण में अवतार लेना ही विभव कहलाता है। भगवान के स्वरूप तो अनन्त है, उनमें भी मुख्य और गौण के भेद से वे दो प्रकार के हैं। जो साक्षात् अवतार होता है वह मुख्य है। जो आवेशावतार है वह गौण कहा जाता है जैसे श्री परशुराम जी का अवतार। जब तक आवेश रहा, तब तक अलौकिक गुण एवं अलौकिक कार्य उनमें दिखते हैं जैसे सहस्त्रार्जुन के साथ

युद्ध और उसका वध आदि । मुख्य विभव अवतार भी तीन प्रकार का है- मुख्य, मुख्यतर और मुख्यतम । उनमें श्रीवामन अवतार आदि मुख्य हैं । श्री नृसिंहावतार आदि मुख्यतर हैं । श्रीराम श्री कृष्ण जो प्रत्येक युग में अवतार धारण करते हैं, वे मुख्यतम हैं । ये अवतार पूर्ण मानव विग्रह थे और दैन्य तथा क्रूर कर्म से रहित थे । यद्यपि वामन अवतार भी पूर्ण मानव विग्रह था किन्तु वहाँ दैन्य था और करुणा का अभाव था । इसलिये ये अन्तर है । सारस्वत कल्प में अवतरित भगवान श्रीकृष्ण अथवा आद्य युग में अवतरित श्रीराम पर ब्रह्म ही थे । वे स्वयं प्रकट हुये । इन दोनों ने युगावतारों का भी कार्य किया और अपनी परम आनन्दमयी लीला दिखाते हुये भक्तजनों को आनन्दित भी किया । युग युग में अपने-अपने समय में प्रादुर्भाव युगावतार श्रीराम और श्रीकृष्ण ही हैं यही मुख्यतम विभवस्वरूप है । जो जब कभी दैवी भक्तों के लिये स्वस्वरूप का आनन्द देने के लिये सारस्वत आदि कल्पों में केवल आनन्द विग्रह रूप से भक्तों के मन को संतुष्ट करने के लिये स्वरूप धारण करते हुये आनन्द विहार ही करते हैं, वही पूर्ण पुरुषोत्तम हैं परिपूर्ण परात्पर हैं । वे युद्धादि नहीं करते और न ही संयोग वियोग आदि क्लेश विशेष का अनुभव ही करते । वहाँ दुख शोकादि का लेश भी नहीं है । वहाँ तो केवल परमानन्द का दान ही दैवी भक्तों को दिया जाता है । वहीं जब उस समय के युग पुरुष बनकर महापुरुषों के अवतार कार्य भी सम्पन्न करते हैं । तब वे केवल युग के अवतार रूप कहे जाते हैं । जैसे श्रीराम श्रीकृष्ण राक्षसों का वध, युद्धादि कार्य करके धर्म की संस्थापना सज्जनों का परित्राण आदि सब कुछ करते हैं । जब तक बाल, किशोर, पौगण्ड आदि अवस्थाओं का प्रदर्शन करते हुये आनन्द दान करते रहते हैं तब तक उन्हें क्लिष्ट कर्म कारक नहीं कहा जा सकता जब तक मात्र आनन्द घन ही होते हैं । यदि प्रसंगवश उन्हें राक्षसादि का वध रूप कार्य भी करना पड़े तब भी उन असुरों को आनन्द दान देने के लिये ही बिना शस्त्र ग्रहण के उनका वध अपने विग्रह में लीन करने के लिये ही वे किया करते हैं । जैसे मुहूर्त्त मात्र में सवा दो घड़ी समय में चौदह हजार राक्षसों का वध श्री राम द्वारा किया गया । इसी प्रकार ताड़का का भी मोक्ष किया गया । श्रीकृष्णावतार में पूतना का वध दूध पीने के बहाने किया गया और उसे मातृ गति प्रदान की गयी । अघासुर-तृणावर्त बकासुर, धेनुकासुर, प्रलम्ब, शल तोषल, चाणूरादि सहित

कंस वध पर्यन्त समस्त असुरों का संहार भी अक्लिष्ट कर्म ही है क्योंकि ये सब बिना शस्त्र ग्रहण के ही हाथों से ही परब्रह्म पूर्ण पुरुषोतम स्वरूपानुसार ही कार्य किये गये हैं ।

तदनन्तर श्रीरामावतार में रावणादिवध पर्यन्त एवं श्रीकृष्णावतार में जरासन्ध से युद्ध आरम्भ होने से आगे के सभी कार्य युगावतारानुरूप ही कहे जायेंगे । पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूपानुसार नहीं । पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप कार्य तो ललित कार्य हैं महारासादि । किन्तु उनके अन्तर्गत भी असुर जीवों का उद्धार निहित है ।

इसी प्रकार आवेशावतारों में भी स्वरूपावेश और शक्त्यावेश ये दो भेद आते हैं । स्वरूपावेश परशुरामादि में तथा शक्त्यावेश पृथु आदि राजाओं में तथा शिव, ब्रह्मा आदि में है ।

४. अन्तर्यामिस्वरूप:- जैसा कि वेद सूक्त में उल्लेख है कि- लोगों का नियमन करने वाला शासक उन्हीं के भीतर स्थित है । सकल चराचर अन्तर्यामी, सकल नियन्ता एवं सर्वरूप वह ईश्वर है । प्रत्येक शरीर में जीव के साथ प्रविष्ट साक्षी, नियामक एवं प्रेरक, सभी के हृदयों में स्थित, सुख दुख आदि कर्म फलों का नियन्त्रण करने वाला, अपना सुहृद, समय पर जीवात्मा का रक्षक समुद्बोधक एवं समुद्धारक है । सभी हृदयों में विहरणशील है । गीता में भी कहा गया है कि- वह ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय देश में स्थित है ।

अर्चावतार स्वरूप भक्तजनों की मनोभावना के अनुसार और उनकी श्रद्धा के अनुरूप सुवर्ण, चाँदी, ताँबा आदि धातुओं से प्रभु का विग्रह निर्मित किया जा सकता है । पत्थर अथवा मिट्टी से भी विग्रह का निर्माण हो सकता है । अस्थायी, तात्कालिक या देश काल के अनुसार और भक्तों की मनोभिलाषा के अनुसार चित्रमय अथवा वस्त्रमय भगवान के स्वरूप की परिकल्पना करके जिस स्वरूप में अपनी भावना प्रस्फुटित होती हो, अपनी भक्ति संचरित होती हो, वैसा ही स्वरूप धारण कर भक्त पराधीन प्रभु उसकी सेवा-अर्चना ग्रहण करते हैं । भगवान स्वयं कहते हैं-

अर्थात् मैं भक्तों के आधीन हूँ, स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र हूँ मेरे हृदय को भक्तों ने सज्जनों ने पकड़ रखा है । अत: स्वयं सर्व समर्थ होते हुये भी

भगवान भक्तजन मुखापेक्षी हैं, उनके द्वारा निवेदित सामग्री को प्रेमपूर्वक स्वीकारते हैं । मनुष्यों की भाँति सभी क्रियायें जैसे भोजन, आसन, शयन एवं वस्त्र अलंकार धारण आदि सब कुछ भक्त के मन को प्रसन्न रखने के लिये किया करते हैं । हिंडोला, पलंग शयन सिंहासन आदि सभी प्रकार की सेवाओं को स्वीकार करते हुये भक्तों की भावना के अनुकूलं ही महामहोत्सव, अन्नकूट, छप्पन प्रकार के व्यंजनों का भोग आदि स्वीकार करते हैं । खाते हैं, पीते हैं, सोते और जागते हैं । स्नान, क्रीड़ा, कन्दुक, क्रीड़ा आदि पाँसा, चौपर आदि खेलों में भी भाग लेते हैं । कहीं राधाकृष्ण के रूप में कहीं श्री सीताराम के रूप में और कहीं नृसिंह वाराह स्वरूप में भक्तों के मनोरथ पूर्ण किया करते हैं । यही अर्चावतार का स्वरूप है ।

इस अर्चावतार के भी चार भेद हैं ।

१. स्वयं प्रकट होने वाला स्वरूप, २. देवताओं के द्वारा संस्थापित, ३. ऋषियों के द्वारा प्रादुर्भूत, ४. मनुष्यों के द्वारा प्रतिष्ठापित

शौनकवचनमस्ति :- **सुरूपां प्रतिमां विष्णोः प्रसन्नवदनेक्षणम् ।**
कृत्वात्मनः प्रीतिकरीं सुवर्णरजतादिभिः ॥

विष्वक्सेनसंहितायामपि- **अर्चावतारविषये मयाप्युद्देशतस्तथा ।**
उक्ता गुणा न शक्यन्ते वक्तुं वर्षशतैरपि ॥

शौनकवचन है- अर्थात् प्रसन्नमुख एवं नेत्रों वाली सुन्दर स्वरूप वाली भगवान विष्णु की प्रतिमा जैसी आपके मनोनुकूल हो, वैसी सोने या चाँदी से निर्मित करें । उसी की अर्चना पूजा ध्यान एवं प्रणाम करें विष्वक्सेन संहिता में भगवान् कहते हैं कि अर्चावतार श्रीठाकुर जी के गुणों का वर्णन सैकड़ों वर्षों में भी मैं नहीं कर सकता ।

इस प्रकार अर्चावतार के अनन्त गुण हैं जिनको प्रभु भी साक्षात् अपने मुख से सौ वर्षों में भी वर्णन करने में असमर्थ हैं । अर्चावतार की पूजा से भक्त की शुभ रूचि प्रकट होती है । उसे शुभ आश्रय प्राप्त होता है । श्रद्धालु भक्त अपने सेव्य के स्वरूप को साक्षात् अपने सामने उपस्थित मानकर उनकी शरण ग्रहण करता है और संकटों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है । जैसे सुदृढ़ आसक्ति वाले प्रह्लाद जी ने कहा था-

अर्थात् सम्पूर्ण तापों के शमन (शान्ति) हेतु विश्व में एकमात्र औषधि श्रीराम नाम का जप है । उस जापक को भला भय कैसे हो सकता है ।

''रामनाम जपतां कुतोभयं विश्वताशमनैकभेषजम् ।
पश्य तात ! मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ॥

प्रह्लाद जी अपने पिता श्री से कहते हैं- पिताजी देखिये मेरे शरीर के चारों ओर जलती हुई आग भी इस समय मुझे जल की भाँति शीतलता प्रदान कर रही है । इस प्रकार अर्चावतार स्वरूप भगवान स्वयं अपने सेवक को सभी प्रकार की आपत्तियों से मुक्त कर देते हैं ।

इस प्रकार चित्, अचित् और ब्रह्म इनके स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानकर उनमें परस्पर शरीर शरीरीभाव, शेषशेषीभाव, नियाम्यनियामक भाव और भोग्य भोक्तृभाव आदि अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है इस बात को भी नहीं भूलना चाहिए ।

''भोक्ता भोग्यं प्रेरयितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं, त्रिविधं ब्रह्मैवैतत् ।''

प्रमाण-श्वेताश्वतरोपनिषद् में भोक्ता, भोग्य और इन दोनों का प्रेरक इन तीनों को ब्रह्म कहा गया ।

यही विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त है । भोक्ता जीव भोग्या प्रकृति और प्रेरणा देने वाले साक्षात् अन्तर्यामी ईश्वर यही तीन ब्रह्म के भेद हैं । यही विशिष्टा द्वैत सिद्धान्त में तीन तत्त्व है । संसार में तत्त्व क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यही है ।

जप करने योग्य मन्त्र का जप वैष्णवों को करना चाहिये- इसके उत्तर में आचार्य श्री ने कहा- श्रीवैष्णवों के लिये स्मृति में कहा गया मन्त्र ही सदैव जप के योग्य है-मनुस्मृति में वर्णन आता है

सप्तकोटि महामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः ।
एक एव परो मन्त्रो राम इत्यक्षरद्वयम् ।

वाल्मीकिसंहितायाम्ः- **''महापातक नाशोऽपि मानवानां क्षणेन च ।**
जपतां राममन्त्रन्तु भवतीह न संशयः ॥

अर्थात् सात करोड़ महामन्त्र मनुष्य को भ्रम में डाल देते हैं । अतः 'राम' यह दो अक्षरों का मन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है इसे ही अपना चाहिये । वाल्मीकि संहिता में भी ऐसा ही उल्लेख है-

क्षण भर में ही मनुष्यों को महापातकों को भी नष्ट कर देने वाला यह राममन्त्र है इसमें संशय नहीं है । अतः इसका जप करें । यह 'राम' मन्त्र ॐ का भी जनक है । अतः संन्यासियों को भी इसका जप करना चाहिये ।

कारणं प्रणवस्यापि रामनाम जगद् गुरु ।
तस्माद् ध्येयं सदा चैतद् यतिभिः शुद्धचेतसा ॥

सुश्रुत संहिता में स्वयं भगवान शिव कहते हैं-

यह 'राम नाम जगद् गुरु है । प्रणव (ओंकार) का भी जनक है । अतः यतियों को पवित्र मन से इसका जप करना चाहिये ।

पुलस्त्य संहिता में लिखा है-

''रकाराज्जायते ब्रह्मा 'र काराज्जायते हरिः ।
'र' काराज्जायते शम्भू 'र' कारात्सर्वशक्तयः ॥
बीजे यथास्थितो वृक्षः शाखापल्लव संयुतः ।
तथैव सर्ववेदाहि 'र' कारे सुव्यवस्थिताः ॥

''(य एतत् तारकं नित्यमधीते स पाप्मानं तरति'') इति श्रुतिः ।

हारीतस्मृतावपि :-**श्रीरामाय नमो ह्येतत् तारकं ब्रह्म नामकम् ।**
नाम्नां विष्णोः सहस्त्राणां तुल्य एष महामनुः ॥ इति

अर्थात् रकार से ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं सभी शक्तियाँ उत्पन्न हैं । जैसे शाखा पल्लव से संयुक्त वृक्ष बीज में व्यवस्थित होता है और समय पाकर प्रकट हो जाता है उसी प्रकार समस्त वेद और शास्त्र राम नाम के रकार में व्यवस्थित है । दूसरी बात यह भी है कि यह श्री राम मन्त्र तारक मंत्र है छः अक्षरों वाला है । यह महान से महान सांसारिक भयों से सभी लोगों को तार देता है, तथा जन्म मरणादि के भय से भी यह बचाता है, अतः इसे तारक मन्त्र की संज्ञा दी गई है । श्रीराम तापनीयोपनिषद् में कहा है कि गर्भ, जन्म, जरा, मरण और संसार रूपी महान् भय से तारता है इसीलिए तारक महामन्त्र कहा जाता है । जो इस तारकमन्त्र का नित्य जप करता है

वह पापों को तर जाता है । हारीत स्मृति में भी- 'श्रीरामाय नमः यह तारक ब्रह्म है भगवान् विष्णु के सहस्त्रनाम के तुल्य यह महामन्त्र है महामनु का तात्पर्य महान् सुगोपन के योग्य है दूसरी जगह भी भगवान् शंकर की उक्ति प्रसिद्ध है हे मनोरमे वरानने रामे पार्वति ! राम यह नाम भगवान् विष्णु के सहस्त्र नामों के बराबर है ।

इस तारक मन्त्र को जैसा आपके गुरुजी ने दिया है वैसा ही जपना है । कुछ लोग 'श्री रामाय नमः' का उपदेश देते हैं ।

कुछ महात्मा 'रां रामाय नमः' का उपदेश देते हैं । यह दो प्रकार का होता हुआ भी समान फल देने वाला एवं तारक है । केवल बीजाक्षर का ही भेद है और वह उपासना परक है । जो लोग केवल श्रीरामजी की बाल भाव की उपासना करते हैं वे विरक्त हैं वे 'रां' बीज सहित इसका जप करते हैं । और जो लौकिक हैं, श्री युगल स्वरूप के उपासक हैं वे श्री सीता से युक्त रघुनाथ जी की उपासना करते हैं, वे लोग 'श्री' बीजाक्षर से युक्त 'श्री रामाय नमः' ऐसा जप करते हैं ।

कुछ लोग (सन्त जन) वर्ण व्यवस्था के क्रम से भी द्विजातियों एवं द्विजातियों से इतर जनों को अलग-अलग मन्त्र प्रदान करते हैं । श्री तारक ब्रह्मवाची षडाक्षर मन्त्र सदा जपे ।

इस तारक मन्त्र के अतिरिक्त भी एक मन्त्ररत्न है जो पच्चीस अक्षरों का है । छः पदों से युक्त है और छन्दोबद्ध हैं 'ॐ श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये । श्रीमते रामचन्द्राय नमः' कुछ श्लोक भी जप योग्य हैं

उक्तञ्च हारीतस्मृतौ :- **'पञ्चविंशाक्षरोमन्त्रः पदैः षड्भिः समन्वितः ।**
वाक्यं द्वयं परं मन्त्रं ज्ञेयं रत्नमनुत्तमम् ॥'

तदर्थश्लोका:-

'श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि,
श्रीरामचन्द्रचरणौ वचसा गृणामि ।
श्रीरामचन्द्रचरणौ हृदि चिन्तयामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ।'
'श्रीरामचन्द्रचरणौ सततं भजामि
श्रीरामचन्द्रचरणावनिशं नमामि ॥

श्रीरामचन्द्रचरणौ हृदि भावयामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणीकरोमि ॥२॥

द्वितीयश्च श्लोकमन्त्र :-

'श्रीमते रामचन्द्राय नमः' परविभूतये ।
श्रीमते रामचन्द्रायनमः कारणमूर्तये ॥३॥

''श्रीमते रामचन्द्राय नमो भक्तसुरद्रवे श्रीमते रामचन्द्राय नम आनन्दसिन्धवे ॥४॥

अतः परं स्तुतिरपिः- **'रामद्वयः परोमन्त्रो मन्त्ररत्नं निगद्यते ।**
जपाद्भक्तिः प्रपत्तिश्च, प्रीतिर्भगवतीर्यते ॥

जैसे- श्रीहारीत स्मृति में कहा है कि २५ अक्षरों से और छः पदों से समन्वित तथा दो वाक्यों में जो मन्त्र हो उसे मन्त्ररत्न कहते हैं ।

श्रीरामजी के युगल चरणों को मन से स्मरण करता हूँ, श्रीरामजी के युगल चरणों को वाणी से कथन करता हूँ, रामजी के युगल चरणों को हृदय में चिन्तन करता हूँ और श्रीरामजी के युगल चरणों की शरणागति स्वीकार करता हूँ । श्रीरामजी के चरणों की निरन्तर सेवा करता हूँ श्रीराजी के चरणों को निशिदिन नमन करता हूँ श्रीरामजी के चरणों की शरण में हूँ । परविभूति स्वरूप श्रीरामचन्द्रजी को नमस्कार हो कारणमूर्ति श्रीमान् रामचन्द्रजी को नमस्कार हो ।

अपने भक्तों के लिए कल्पवृक्षस्वरूप एवं आनन्द सिन्धु स्वरूप श्रीरामजी को नमस्कार हो । इसके बाद स्तुति भी- सर्वश्रेष्ठ मन्त्रद्वय को मन्त्ररत्न भी कहा जाता है इसके जप करने से भगवान् की भक्ति, प्रपत्ति और प्रीति की प्राप्ति होती है ।

अपरश्चरमोमन्त्रः- **'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।**
अभयं सर्वभूते भ्यो ददाम्येतव्रतं मम ॥

शरणागति बोधक यह चरम मन्त्र चौदह पदों का है । और इसमें बत्तीस अक्षर हैं । भगवान श्री राम ने स्वयं प्रपन्न शरणागत भक्त के लिये, या जिस किसी भी प्राणी के लिये सर्वदा अभय दान देने वाला यह मन्त्र बतलाया है । वैष्णवों के लिये भी यह मन्त्र सर्वदा उपास्य है । इससे भक्त

के हृदय में श्रद्धा, भक्ति एवं विश्वास की दृढ़ता उत्पन्न होती है । निर्भयता तो स्वत: सिद्ध है । भगवत् प्रदत्त है ।

अत: रां रामाय नम: (श्री रामाय नम:) यह तारक मन्त्र और चरम मन्त्र (सकृदेव प्रपन्नाय) ये दोनों ही तारक हैं । साक्षात् भगवान की प्राप्ति करने वाले हैं । तीसरा मन्त्र-'श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये श्रीमते राम चन्द्राय नम:' है । वैष्णवों को अपने गुरुमुख से प्राप्त मन्त्र का सदैव जप करते रहना चाहिये ।

(३) रा प्रश्न किसका ध्यान करना चाहिये-

'तैलधारासमं नित्यं निरवच्छिन्नभावत: ।
चित्तप्राणमनोबुद्धि: सुस्थिर: संयतेन्द्रिय: ॥१॥

जैसे तेल की धार बिना व्यवधान (रूकावट) के लगातार क्रम में पात्र में गिरती रहती है उसी प्रकार चित्त, प्राण, मन, बुद्धि को स्थिर करके इन्द्रियों के निग्रह पूर्वक ध्यान करना चाहिये ।

नील कमल के समान श्याम वर्ण वाले, रेशमी पीत वस्त्र से सुशोभित जिनके सभी अंग, अवयव, सुन्दर एवं स्वच्छ हैं जिनके अधरों पर मन्द हास्य विराजमान हैं । करोड़ों कामदेवों को अपने सौन्दर्य से जीते लेने वाले, करोड़ों चन्द्रों के समान सुशीतल, करोड़ों, सूर्यों के समान प्रभा वाले व्यापक प्रभु दो भुजाओं से सुशोभित हो रहे हैं ॥१-३॥ दिव्य धनुष बाण और दिव्य आभूषणों से विभूषित श्रीसीताजी के साथ ऐसे सुशोभित हो रहे हैं जैसे विद्युत रूपी लता के साथ मेघ (बादल) ॥४॥ दिव्य रत्नों से जड़े हुए स्वर्णिम पर्वत शिखर पर सोने के दिव्य सिंहासन पर विराजमान है ॥५॥ जिन्होंने अपने वाम भाग में अपनी प्राण प्रिया को स्थापित कर रखा है जिनके नेत्र आप के मुखचन्द्र के दर्शनार्थ चकोर हो रहे हैं । ऐसी जनक नन्दिनी को परमानन्द प्रदान करते हैं । श्रीसीताजी के मुखकमल मके प्रति जिनके नवकंजलोचन भंवरे के समान तृष्णा युक्त है । वामभाग में विराजमान श्रीप्रिया प्रीतम एक दूसरे के कंधों पर अपनी-अपनी भुजाओं को पधार रखे हैं । निकटस्थ श्रीचारुशिला, रूपकला आदिक सखियों के द्वारा नित्य केलिकुञ्ज में पाद संवाहनादि सेवावों से जिनका दुलार किया जा रहा है ॥६-७-८॥ दूसरा ध्यान कहते हैं । रत्न सिंहासन पर विराजमान श्रीसीताराम जी

की उनके श्रेष्ठ भ्राता भरत, लक्ष्मण, शत्रुघन के द्वारा चमर रत्न जटित पंजा और मोर पंख के गुच्छे से पंखा किया जा रहा है ।।९।। मुनियों के मानस सरोवर में बिहार करने वाले राजहंस, भक्त के दु:ख को दूर करने वाले, भक्तवत्सल, शरण्य आदर करुणासागर, आर्तों की रक्षा में तत्पर, ध्यान के द्वारा जानने योग्य जगद्गुरु श्रीराम रूपी पर देवता का सदा ध्यान करे ।।१०-११।। इस प्रकार करुणासागर श्रीरामजी के दिव्य रूप और गुणों का सदैव भक्तिपूर्वक ध्यान करने से समर्थ और रघुनाथ जी भुक्ति मुक्ति को देने वाली अपनी भक्ति को प्रदान करते हैं ।

४. थां प्रश्न मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन क्या है ?

उत्तर में बतलाया गया- मोक्षाभिलाषी भक्त को समस्त इन्द्रियों का निग्रह आवश्यक है । वह शरणागत हो एवं नवधा भक्ति से सम्पन्न हो । शास्त्रोक्त विधि से सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के अनुसार समस्त व्रतोपवासादि करे । निम्नलिखित पाँच संस्कारों से संस्कृत हो । १. भुजाओं में मुद्रा आदि का धारण २. उर्ध्व पुण्ड तिलक धारण ३. भगवद् दास्य बोधक नाम हो ४. मन्त्र दीक्षा ग्रहण किये हुये हो ५. गले में तुलसी माला (कण्ठी) का धारण ।

इस प्रकार प्रत्येक एकादशी व्रत, वामन द्वादशी व्रत, नृसिंह चतुर्दशी व्रत, हनुमज्जयन्ती (कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी व्रत, विशेष रूप से जन्माष्टमी व्रत, श्री रामनवमी व्रत, श्री जानकी नवमी व्रत करें । इन सभी में विशेषोत्सव समारोह प्रदर्शनपूर्वक झूला एवं पलना आदि उत्सवों के मनाया जाना । यही सब मुक्ति के साधन हैं ।

५. वां प्रश्न सर्वश्रेष्ठतम धर्म:-

'अहिंसा परमोधर्म:' के अनुसार अहिंसा को सभी शास्त्रों ने श्रेष्ठतम धर्म बतलाया है । कहा भी गया है-

नाऽहिंसा सदृशं दानं, नाऽहिंसा सदृशं तप: ।
नाऽहिंसा सदृशं तीर्थं, पुण्यभूषणशोभनम् ॥

किञ्च-

'यथावक्रगता नद्य: सिन्धावेव विशन्ति हि ।
संश्रयन्ति तथा धर्मा 'हिंसाहीनेषु साधुषु ॥'

अहिंसा के समान अन्य कोई भी दान, तप, तीर्थ, पुण्य एवं सुन्दर कार्य नहीं है । अत: सर्वश्रेष्ठ धर्म अहिंसा है जैसे वक्रगति से चलने वाली

नदियां समुद्र में प्रवेश कर जाती है उसी प्रकार हिंसा से शून्य साधुओं में सारे धर्म अपने आप चले आते हैं । अतः अहिंसा ही सर्व श्रेष्ठ धर्म है ।

अहिंसा केवल यह नहीं है कि अस्त्र शस्त्र से किसी का वध कर दिया जाय । अपितु मन से, वाणी से, कर्म से भी किसी के हृदय में चिन्ता या क्लेश उत्पन्न करना हिंसा है । अपनी लेखनी से, वाणी से, आदेश से, व्यर्थ में ही किसी को दण्डित करना या करवाना, निरपराधी के ऊपर दोषारोपण, निरर्थक द्वेषभावना, व्यर्थ में ही निन्दा करना, अर्थात् जिस कर्म से मन में चोट पहुँचे वे सब कर्म हिंसा ही है । उन सबका परित्याग करना ही अहिंसा है ।

जो भी कर्म किये जायँ उनको भगवान को अर्पित अवश्य करना चाहिये । अपने लिये कोई भी कर्म न करके भगवदर्थ कर्म किये जाये । प्रतिदिन यथावसर भगवान् के स्वरूप, मूर्त्ति अथवा चित्र की उपासना की जाय । यथा प्राप्त सामग्री द्वारा, षोडशोपचार द्वारा अथवा राजसी उपचार के माध्यम से उचित रीति से उपार्जित धन के द्वारा भगवान का अर्चन, वन्दन, स्तवन, महोत्सवों का आयोजन भगवत् कथा श्रवण ये सब भगवान को प्राप्त कराने वाले श्रेष्ठतम धर्म हैं ।

६. वाँ प्रश्नप वैष्णवों के प्रकार-

सामान्य रूप से वैष्णवों के तीन भेद हैं । मुमुक्षु, बुभुक्षु और प्रपन्न ।

मुमुक्षु- जो अविद्या जन्य मायिक कर्मों से निरपेक्ष हैं । कर्म फल में जिनकी आसक्ति नहीं है । लौकिक सुखों एवं भोगों की वासनाओं से रहित हैं । भगवान के ध्यान में सदैव निरत है केवल भगवत् कृपा की ही कामना रखते हैं ।

मोक्षार्थियों के भी दो भेद हैं-

(१) एक वे जो शास्त्रोक्त विधि से भगवान की आराधना में लगे हैं । सेवा एवं समाराधना में तथा पुरश्चरणादि मन्त्रों के जप में निरत हैं ।

(२) दूसरे वे जो केवल भगवन्नाम, कीर्तन, स्मरण और वन्दन में ही अपनी निष्ठा रखते हैं ।

बुभुक्षु- वे कहलाते हैं, जो सांसारिक भोग विलासादि वैभवों की प्राप्ति करना चाहते हैं और भगवद् भक्ति भी करते हैं ।

प्रपन्न- वे हैं जो समस्त लौकिक विषयों के उपभोग से विमुख होकर अशरण शरण एकमात्र भगवान को ही सर्वस्व समझकर और कल्याणकारी मानकर भगवन्निष्ठ हैं । भगवान में ही सुदृढ़ भाव से आबद्ध हैं । अपने आचार्य (गुरु) को भी भगवान का प्रतिबिम्ब मानकर उनके निर्देशन के अनुसार भगवान तथा अपने गुरु की सेवा में रत हैं वे लोग प्रपन्न कहलाते हैं । उनके भी दो प्रकार हैं । (१) दृप्त (२) आर्त ।

दृप्त वे हैं जो स्वकर्मानुसार आने वाले सुख दुख को अपने शरीर से ही संसार में भोग करके श्रद्धा और विश्वासपूर्वक मोक्षसिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं ।

आर्त वे हैं जो संसार सागर के इस बड़वानल को क्षण मात्र भी सह नहीं सकते, इसको अत्यन्त दुखद एवं असहनीय मानते हैं । अतः भगवद्दर्शन हेतु अतीव विरह वेदना कर अनुभव करते हैं और व्यथित रहते हैं ।

विशुद्ध भक्त- वे हैं जो मुक्ति, या किसी भी प्रकार के सुख की कामना नहीं करते । केवल भगवद् भजन को ही परम धन मानते हैं जैसे- वृत्रासुर श्रीमद् भागवत में स्तुति करता है-

'ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।

-श्रीमद् भागवत

त्वन्माययाऽऽत्माऽऽत्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥

-६/११/२७

'अहं हरे ! तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः ।

मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गुणीतवाक्कर्म करोतु कायः ॥ इति

वृत्रासुर विशुद्ध भक्त है उसकी कामना यही है- कि हे प्रभु मैं आपके चरण कमलों के दासों का भी दासानुदास बन जाऊँ । मेरा मन

आपके गुणों का स्मरण करता रहे, मन, वाणी, कर्म तीनों ही आप में लग जायें । पुण्यशाली जनों का साथ मुझे दीजिये, चाहे मैं जहाँ भी रहूँ । आपकी माया मुझे पुत्र कलत्र गृहादि में आसक्त न कर सके ।

७. वाँ प्रश्न वैष्णवों के लक्षण-

जो सर्वदा निर्विकार रहते हैं पारस्परिक द्वेषभावना से उनका मन अछूता रहता है । दीक्षा के अवसर में पंच संस्कार चिन्हों से उन्हें अलंकृत किया जाता है अतः उन चिन्हों को सदैव धारण करते हैं । भगवान एवं भगवद् भक्तों की सेवा करने का उन्हें व्यसन रहता है । प्रतिक्षण भगवत् स्मरण एवं कीर्तन में निरत रहते हैं । प्रसन्नचित्त रहते हैं और जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी से सन्तुष्ट रहते हैं । मन, वाणी, कर्म में एकता रहती है पवित्र कर्म करते हैं । लोगों को दुख नहीं पहुँचाते । निःस्पृह एवं अनासक्त होते हैं । सब में भगवान का ही दर्शन करते हैं । स्थित प्रज्ञ होते हैं । इस प्रकार के वैष्णव ही लोकहित साधक होते हैं । तीर्थों को भी सत्तीर्थ बना देते हैं । शास्त्रों की रचना करते हैं ।

किञ्चः- **स्वदर्शनाऽऽलापसमागमैर्ये हरन्ति दुःखानि सुदुःखितानाम् ।**
शान्तिं प्रयच्छन्त्यचिरेण, भक्तिं ह्युद्भावयन्तो भगवत्परास्ते ॥

(वेषभूषा च तेषाम्)- **कौपीनं कटिसूत्रञ्च वस्त्रयुगमन्तु धारयेत् ।**

(भारद्वाजसंहितायाम्)- **'धारयेदूर्ध्वपुण्ड्रांस्तु सच्छिद्रानेव देशिकः ॥**

उत्तम वैष्णव अपने दर्शन, आलाप एवं मिलन से ही अत्यधिक दुःखी लोगों के भी दुख को दूर कर देते हैं । तत्काल शान्ति प्रदान करते हैं, भक्ति का उद्भावन करते हैं, और भगवत् परायण हुआ करते हैं । कौपीन, कटि सुत्र एवं दो वस्त्र धारण करते हैं ऊर्ध्व पुण्ड्र धारण करते हैं ।

८. वाँ प्रश्न वैष्णवों का निवास-

पवित्रतम स्थलों, तीर्थों अथवा भगवत् धामों में उनका निवास होता है । या फिर जहाँ आनन्दपूर्वक भगवान का स्मरण समाराधन, दर्शन एवं सत्संग आदि के साधन सुलभ हों-जैसे हरिद्वार, प्रयाग, काशी, अयोध्या,

वृन्दावन, चित्रकूट, नैमिषारण्य, प्रभास, द्वारिका, बदरिकाश्रम, उज्जयिनी, जगन्नाथपुरी, वेंकटाचल काञ्ची, गंगासागर, संगम एवं पण्ढरपुर इत्यादि । पवित्रतम स्थलों में जहाँ गंगा, यमुना, सरयू, नर्मदा, काबेरी, गोमती, गोदावरी, अलकनन्दा, मन्दाकिनी प्रभृति देव नदियाँ प्रवाहित हों । मधुवन काम्यवन आदि ।

९. वाँ प्रश्न कालक्षेप- (समय किस प्रकार की दिनचर्या में व्यतीत हो)

वैष्णव जन शास्त्रोक्त मार्ग के अनुसार श्रौत स्मार्त्त आदि कर्म करते हुये भी फल की इच्छा से दूर रहें । भगवत् प्रीत्यर्थ ही उनके सभी कार्य हों । प्रतिदिन शास्त्र, पुराण, प्रवचन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं सब प्रकार से चित्तशुद्धि वाले कर्मों में निरत रहकर सन्ध्यावन्दन आदि करते हुये लौकिक व्यापारों तथा देह गेह की आसक्तियों में न रमकर सर्वदा पवित्र रहें । अपने को भगवान के दासों का भी दासानुदास समझते हुये अपने गुरुद्वारा प्रदत्त मन्त्रादि का जप करते हुये भगवान की सेवा में ही रहकर अपना समय बितायें ।

१०. वाँ प्रश्न मोक्ष के साधन-

प्राप्य अर्थात् जो पाने योग्य है उसकी प्राप्ति हो जाना ही मुक्ति या मोक्ष है । प्राप्य (पाने योग्य) क्या है ? सम्पूर्ण वेद वेदान्त का प्रतिपाद्य पर ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम श्री सनाथ श्री नाथ जानकी जीवन श्री राम ही प्राप्य हैं । क्योंकि वे ही परम कारुणिक, भक्त वत्सल, अशरण शरण, भक्त कल्पद्रुम सर्व देवमय, सर्वशक्तिमान योगियों के द्वारा ध्यान करने योग्य सत्य, नित्य, आनन्द विग्रह हैं । उनकी प्राप्ति का साधन उनसे सर्वाधिक स्नेह, उनके प्रति अनन्य आसक्ति और एकमात्र उनकी भक्ति का ही व्यसन होना है । 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' भक्त्याहमेकया ग्राह्यः इस गीता वाक्य के अनुसार एकमात्र अनन्य भक्ति के द्वारा ही पकड़ में आने योग्य भगवान श्री राम को हृदय में धारण करना ही वर्तमान कालिक मोक्ष है ।

ऐसे प्रकाशस्वरूप, दिव्याति दिव्य, जगत् की उत्पत्ति, पालन एवं संहार में सक्षम, ब्रह्माण्ड के आधारभूत, अशरण शरण भक्त वत्सल के

दर्शनार्थ (साक्षात्कार हेतु) मोक्ष आदि हेतु श्रीगुरु चरणों की शरण ग्रहण करनी चाहिये । उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का यथा विधि पालन करते हुये अपने भीतर श्रद्धा रखते हुये प्राणायामदि के साथ-साथ इन्द्रियों पर नियन्त्रण करते हुये वाम एवं दक्षिण स्वरों को इड़ा पिंगला से एकाकार करके सुषुम्ना के साथ संयुक्त कर ध्यान विधि से श्रीरामजी के रूप में स्थित हो जाना ही मुक्ति है । ऐसा करने से प्राणी स्वत: बन्धन मुक्त हो जाता है । चन्द्र सूर्य- बायें दांयें स्वर को अर्थात् इडा पिंगला नाड़ियों से बहने वाली प्राण वायु का सुषुम्ना नाड़ी से संबन्ध कराकर ध्यान युक्त होना बन्धन से मुक्त होना है ।

श्रीगणेशायनमः।। श्रीजानकीवल्लभोविजयते।। श्रीमतेरामानन्दायनमः ।।

गोस्वामी हरिकृष्ण शास्त्री विरचित

''आचार्यविजय''

उत्तरार्द्ध

इकतालीसवाँ परिच्छेद

श्रीरामं रामानुजं सीतां भरतं भरताग्रजम् ।
सुग्रीवं वायुसूनुञ्च प्रणमामि पुनः पुनः ।।
सीतानाथ समारम्भां रामानन्दार्य मध्यमाम् ।
अस्मदाचार्य पर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ।।
रामानन्दो महाचार्यः साक्षाद्दाशरथिः स्वयम् ।
जयशीलस्तु ग्रन्थोऽयं श्रीविजयो भुवस्तले ।।१।।
क्वैष दिव्यतमो ग्रन्थः क्वैषा मन्दा मतिर्मम ।
हिन्द्यामस्यानुवादेऽहमबुधः शक्नुयां कथम् ।।२।।
धियो वाण्याश्च संशुद्ध्यै गुणगानं महात्मनाम् ।
आकाशपुष्पवाञ्छेव प्रयासो हास्यकारकः ।।३।।
तथापि विद्वज्जनसाधुसेवया, शुभाशिषा
शास्त्रनिषेवणेन ।
विधूननायाशु स्वकश्मलञ्च ग्रन्थानुवादे हि प्रवर्तितोऽहम्
।।
विबुध विप्र बुध ग्रह चरण बंदि कहउँ कर जोरि ।
होइ प्रसन्न पुरवहु सकल मंजु मनोरथ मोरि ।।

इस प्रकार स्वामी जी सतत श्रीसुरसुरानन्दादि समस्त शिष्य, अपने साधु समाज के मौलिमण्डनभूत सन्त एवं महान्त आदि जिज्ञासुओं के मन को समस्त शास्त्र वेदोपनिषत्स्मृति सम्मतसत्सम्प्रदाय सम्मतभगवदीयजनाभीप्सित

और आराध्याराध-कोपासनादिविवेक समलंकृत प्रवचनामृत से सन्तुष्ट करके, श्रेष्ठ भक्तों के द्वारा की गयी सेवा पूजा को स्वीकार करके उस नक्खीतट से उठकर समस्त शिष्यों के साथ गुरुशिखरादि स्थानों को देखते हुए अर्वुदाचल से तीर्थराज पुष्कर क्षेत्र को देखने की इच्छा करते हुए क्रमशः गिरिशिखरों एवं वनों को लांघते हुए अनेकगिरि और नदियों को पार करते हुए मार्ग में वैष्णव समुदाय से विहित सपर्या को अनुग्रहपूर्वक स्वीकार करते हुए समस्त निगमागमसार सर्वस्व प्रवचनामृतधाराओं से चतुर्दिक् भक्ति रसमयी निर्झरिणी को प्रवाहित करते हुए निरन्तर भगवन्नामसंकीर्तन को उल्लसित, भगवदीयजनो-पयुक्तदिनचर्या को विकसित, भक्तिमार्ग को प्रकाशित, ज्ञान विज्ञान को विभासित और प्रवचन विलास की रचना करते हुए सर्वत्र कलियुग को सतयुग बनाते हुए, कलिमल से कलुषित दुरित चरित और दानवीय भावनाओं को कुचलते हुए, भगवच्चरणारविन्दों में भक्ति योग्य सुमति को बढ़ाते हुए, चतुर्दिक् फैले हुए पाषण्ड से प्रसारित छल, छिद्र और दुश्छद्मवादादि का नाश करते हुए, शीघ्र ही भक्तजनों के मानस में ज्ञान विज्ञान ज्योति प्रदीपों को प्रज्वलित करते हुए, सनातन धर्म के अनुरूप परम्परागत धर्म मर्यादा की रक्षा करते हुए ब्रह्मा की तपोभूमि, विश्व सृष्टि क्रिया समुदाय की उल्लासिका, सर्जन कला विकासिका, समस्त निगमागमों की समुद्भासिका, साक्षाद् ब्रह्मा की यज्ञस्थली, सावित्री के शृङ्गार सज्जाकलन में विलम्ब से प्रकट मुहूर्त के अतिक्रमण रूप भय से विरचित, नारद से विहित दम्पति प्रणय विच्छेदक मानोन्मादकचरित से जनित तत्काल विरचित कुशमय गायत्री समुद्भूत वैभव विधायक यज्ञारम्भवेला को स्मरण दिलाने वाली वर्तमान में त्रिकुण्डात्मक त्रिपुष्कर नाम से प्रसिद्ध पुण्यतमवारि से परिपूर्ण श्रीपुष्करक्षेत्र भूमि में पहुँचे।

वहाँ सकल तीर्थराजमौलिमण्डनस्वरूप श्री त्रिपुष्करक्षेत्र में प्रवेश करके अपने शिष्य परिकरों के साथ स्वामी जी ने उस समय के श्रीपुष्कर में (वर्तमान में जिसे ज्येष्ठ पुष्कर कहते हैं) स्नानध्यानतर्पणादि करके एक पूर्वनिर्धारित भगवदीयजन परिकल्पित सभामण्डप में बैठकर सभी प्रवचन सुधापानलोलुपों भक्त वृन्दों की सुचिर समीहित ज्ञानपिपासा की निवृत्ति के लिए बहुसंख्या में समुपस्थित भगवज्जनों के परितोष के लिए सरससुमधुर सुवाणी के द्वारा प्रवचनामृत की वृष्टि की।

वहाँ सबसे पहले पुष्कर तीर्थराज की महिमा का वर्णन किया, जहाँ सर्वलोक पितामह होते हुए भी भगवान् प्रजापति ब्रह्माजी ने सुन्दर यज्ञ का आयोजन किया था। जिस सुभूमि पर यज्ञ का आयोजन किया था उसी को इस समय ज्येष्ठ पुष्कर अथवा ब्रह्माजी का यज्ञकुण्ड कहते हैं। इसी महायज्ञ के स्मारक हैं- भगवती श्रीगायत्रीदेवी का प्राकट्य भगवान ब्रह्माजी की धर्मपत्नी श्रीसावित्रीजी का प्रकोप, देवर्षि नारदजी के ''नारद: कलहप्रिय:'' आदि गुणसाफल्य। उस यज्ञ में स्नान ध्यान तर्पणजपतप होमादि का अनन्त गुणित फल प्रकट हुए। श्रीब्रह्माजी के मन्दिर के दक्षिण पश्चिम भाग में समुन्नत-अर्वुदाचल पर्वत के शिखर पर विराजमान ब्रह्माजी से रुष्टा श्रीसावित्री जी प्रतिमा आज भी सम्पूर्ण लोगों के शोक को विनष्ट कर रही है। इस प्रसङ्ग में एक मनोरम कथा है-

जब ब्रह्माजी ने सम्पूर्ण संसार के शोक को दूर करने के लिए यज्ञमहोत्सव का अनुष्ठान किया और समस्त देवर्षि ब्रह्मर्षि तथा राजर्षियों के समुपस्थित होने पर, परमपवित्र महर्षियों के सम्यक् आहूत होने पर, देवेन्द्रादि सम्पूर्ण देवताओं के समुपस्थित होने पर, यज्ञारम्भवेला के चतुर्थभाग मात्र शेष रहने पर भी यजमानी श्रीसावित्री के उपस्थित न होने पर श्रीब्रह्माजी ने श्रीसावित्रीजी को जल्दी ही लाने के लिए नारदजी को भेजा। तदर्थ प्रस्थित नारद के मन में एक कौतुक करने की इच्छा हुई और उन्होंने सोचा कि हमारे पिताजी का सावित्री के प्रति दृढ़ अनुराग है और सावित्री का हमारे पिता में सर्वोत्कृष्ट प्रीति है। उसी के साथ में ही हमारे पिताजी सपत्नीक यजमान होंगे अत: उन दोनों में सम्बन्ध विच्छेद जैसे भी हो वैसा प्रयास मुझे करना चाहिए ऐसा निश्चय करके पिता की आज्ञा से ''उन सावित्रीजी को'' पिताजी जल्दी बुला रहे हैं मुहूर्त बीत रहा है आप जल्दी तैयार हों, आपको सजधज के ही चलना है बिना सजे नहीं। ऐसा सन्देश देकर ब्रह्माजी के पास आकर बोले कि सावित्री जी तो अभी भी अपने को सजाने में जुटी हैं यज्ञारम्भ मुहूर्त के अतिक्रमण के भय से दो तीन बार भेजे जाने पर भी सन्देशवाहक नारद अभी भी उनका शृङ्गार पूरा नहीं हुआ है आप सब व्यर्थ में समय व्यतीत कर रहे हैं ऐसा कहकर उदास हो गये। उसके बाद ब्रह्मा ने मुहूर्त का अतिक्रमण देखकर कुशा की गायत्री बनाकर 'तुम गायत्री हो' इस प्रकार प्राण प्रतिष्ठा करके उसी को वाम भाग में स्थापित करके यजमानी के स्थान में प्रतिष्ठित करके यज्ञ का शुभारम्भ कर दिया।

यज्ञ का शुभारम्भ होने पर होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ऋत्विक् समुदाय का वरण हो जाने पर, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के गान का शुभारम्भ होने पर, यज्ञीयकर्म के साक्षिभूत सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता श्रीब्रह्माजी का वरण हो जाने पर, यज्ञाचार्यजी का अर्चन हो जाने पर, प्रत्येक वेद के पाठ में विप्रों के नियुक्त हो जाने पर अर्थात् ऋग्वेद के पाठ में होता, यजुर्वेद के पाठ में अध्वर्यु सामवेद के गायन में समुद्गाता, स्वतन्त्र अथर्ववेद के पाठ में एवं समस्त वेदत्रयी विज्ञब्रह्माजी के स्व स्व कर्म में सन्नद्ध हो जाने पर सबके सहयोग की दृष्टि से प्रत्येक वेद के निष्णात तीन तीन की संख्या में ऋत्विजों का वरण किया, कुल १६ ऋत्विजों को तत्तत्कार्यों में नियुक्त करके यजमानपीठ पर श्रीगायत्री सहित ब्रह्माजी का अर्चन हो जाने के पश्चात् जैसे ही यज्ञारम्भ हुआ वैसे ही सजधज करके आयी श्रीसावित्री ने अपने स्थान में गायत्री को देखा ततः उसके बिना किसी अन्य को यजमानी बनाकर कार्य में संलग्न ब्रह्माजी को देखकर क्रोध से तमतमाती हुई यज्ञशाला से निकलकर पर्वत की चोटी पर चली गयी और वहीं रहने लगी इसी घटना की याद दिलाता है गिरिशिखर पर विद्यमान पुष्कर में सावित्री जी का मन्दिर ।

वही यह यज्ञस्थली साक्षाद् ब्रह्माजी के द्वारा रची गयी पुष्करक्षेत्र के नाम से सम्पूर्ण प्राणियों के पाप को हरने वाली, परम पावनी, अनेक जन्मों के पुण्य से समुपलब्ध होने वाली पृथिवी के अलंकार स्वरूपा राजस्थान प्रान्त में विद्यमान है ।

यहाँ तीन रात्रि पर्यन्त निवास करने पर मनुष्यों के सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं विधिपूर्वक किया गया गायत्री पुरश्चरण यहाँ अवश्य सिद्ध होता है ।

सकल साधु समाज से समलंकृत स्वामी श्री रामानन्दाचार्यजी ने इस प्रकार तीन रात्रि तक वहाँ निवास करके श्रीपुष्करक्षेत्र का माहात्म्य और उस समय की गाथा को सुना करके श्रद्धा भक्ति से तीर्थेश्वर को प्रणाम करके 'आम्बेर' राजधानी के लिए प्रस्थान किया । क्योंकि-

सैकड़ों मनुष्यों से अनेक प्रकार से वर्णित श्रीरामानन्दाचार्यजी के माहात्म्य को सुनकर धर्म कर्म ज्ञान भक्तिमार्ग विषयक उपदेश सुनने की इच्छा करने वाले प्रायः सभी उस समय के राजाओं के द्वारा "अपनी

राजधानी को अपने चरण पङ्कजरेणुओं से पवित्र करें'' इस प्रकार प्रार्थना करने पर सबसे पहले मार्ग के मध्य में प्राप्त "आमेर" राजधानी को ही समलंकृत किया । उस समय के वहाँ के राजा ने आदर के साथ सम्मुख आकर विशाल समारोह के साथ पण्डित मण्डली से घिरे हुए स्वामी रामानन्दाचार्यजी को राजकीय छत्र, चामरव्यजनादि चिन्हों से सम्मानित और मण्डित करते हुए सादर सोल्लास श्रद्धापूर्वक जय जय की ध्वनि करते हुए राजमार्ग से स्वामी जी का प्रवेश करवाया और अपने राजकीय अतिथि भवन में अतिथि रूप में व्यवस्थित करके स्वामी जी की सेवा पूजा किया ।

उस समय सन्तों महात्माओं के लिए सुविधिविज्ञान से युक्त, सर्वसुलभ साधन से युक्त एक विशाल अतिथि शाला थी । नगर प्रान्त के सुरम्य उद्यान में विविध फल पुष्पादि समृद्धियों से युक्त, सघनच्छायाबहुलविटपावलियों से समलंकृत वृक्षों की पंक्तियाँ थी, उनके शाखोपशाखा पर विहार करने वाले सकल मनोहारी दीर्घ सत्री पक्षिगण कलकलकूजन के बहाने आये हुए अपूर्व गुणगणतप से उद्दीप्त तेज सम्पन्न महात्माओं के यशोगान करते हुए से विराजमान थे । अहर्निश पर्वतों के झरनों से झरते हुए जलकणों से संयुक्त सुशीतल और सुखद वायु आये हुए अतिथियों को सुख प्रदान करते थे ।

धीमी गति से बहने वाली हवा के झोंके से आन्दोलित लताओं के सुमन गुच्छों से गिरे हुए पीले रंग के पराग से परिरञ्जित सुगन्धित चूर्ण जैसे कोमल बालु से व्याप्त सुन्दर मार्ग से सुशोभित अनेक पद्धतियों से युक्त एक विशाल महल था । वहीं एक ओर सुभग शीतल सलिल से परिपूर्ण अगाध समुद्र की तरह उछलते हुए तरल तरंगों से ललित, अनेक प्रकार के खिले हुए कमलों के परागगन्ध के लोभी भ्रमरों के बढ़े हुए मधुर गुञ्जन से समारब्ध संगीत से सुशोभित, कामदेवरस रसिक युवक युवतिकृत जलक्रीड़ा से कमनीय होते हुए भी नमनीय उत्तम अद्भुत चरित्र एवं महिमा से युक्त पुण्यतीर्थ से प्रकट, दर्शकों के मन को हरने वाला, सभी ऋतुओं में मनोहर, देवताओं की स्त्रियों को भी आकृष्ट करने वाला अत्यन्त सुन्दर सरोवर सुशोभित हो रहा था ।

आम्बेर नरेन्द्र के अतिथि समालाप से समुल्लसित श्रेष्ठ भक्तों के हृदयभूषण, परम हंस शिरोमणि श्रीमान् आम्बेर नरेश के प्रशंसा भाजन स्वामी

श्रीरामानन्दाचार्यजी ने यथासमय सन्ध्यावन्दनादि क्रियाकलाप को सम्पन्न करके आये हुए श्रोताओं के मन की प्रसन्नता के लिए और सपत्नीक कच्छवाह कुलेश्वर तथा समुपस्थित नागरिक भक्त वृन्दों के प्रमोद के लिए शीघ्र ही प्रवचन सुधासरिता को प्रवाहित किया ।

श्रीराम जयराम जय जय राम इत्यादि भगवन्नाम संकीर्तनपूर्वक सभा में समुपस्थित साधु सिद्ध विद्वज्जनों को सम्बोधित करके शुभारम्भ किया हे भव्य सभ्यजनों । यह स्वाभाविक नियम है ''जैसा राजा वैसी प्रजा'' भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा जैसा आचरण करते हैं इतर लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं श्रेष्ठ पुरुष जिसको प्रमाणित कर देता है इतर लोग उसी का अनुकरण करते हैं इस भगवद्गीता के अनुसार जहाँ जैसा धर्मात्मा सदाचार परायण राजा होता है वैसी ही उनका अनुसरण करने वाली उनकी प्रजा भी वैसा ही धर्म अथवा अधर्म का आचरण करती है ।

श्रीमान् आम्बेराधिपति महाराज तो सूर्यवंशी है श्रीरामजी के सेवक हैं श्रीरघुवंश की विभूति हैं तब ये यदि एतादृश गुणों से युक्त हैं तो इसमें क्या आश्चर्य है । क्योंकि स्वाभाविक जन्मसिद्ध गुण तो परम्परा से आकर उस कुल में समुत्पन्न महामहिम पुरुषों की स्वत: उपासना करते हैं अत: इसमें अधिक आश्चर्य की बात नहीं है । परन्तु केवल इतने से ही पूर्ण सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए । केवल राज्य भार संवहन ही राजा का धर्म नहीं है और न ही स्वप्रजा मनोरञ्जन मात्र राजा का धर्म है अपितु सार्वभौम स्वस्व धर्म परिपालन पद्धति का संरक्षण भी प्रतिक्षण निरीक्षण के योग्य है यद्यपि यहाँ की जनता तो स्वधर्मपरिपालन में अपने स्वामी का ही अनुकरण करती है किन्तु इस समय यवन घातकों ने प्राय: सबको अपने बस में कर लिया है सबके सब परित्राण से विमुख है यवन शासकों के अनुशासन का अनुकरण करने वाले हैं, धर्म के सारे दृढ़ बन्धन शिथिलता में पड़ गये हैं सबका एकमात्र उद्देश्य परानुकरण कौशल प्रदर्शन हो गया है विषयवासनापिशाची ने सबके सुकृत सदाचार का हरण कर लिया है जिससे सबके सब दुश्चरित कुचक्र में पड़ गये हैं वर्तमान भारत में बड़े-बड़े मठाधीशों का मनोभाव परिवर्तित हो गया है अपने धर्म सम्प्रदायाचार्य परम्परा के परिपालन में प्रमाद कर रहे हैं पण्डित वर्ग अपने वैदुष्य व चातुर्य का उपयोग कामिनियों को प्रसन्न करने में करते हैं, दुष्चरित दुरालाप दुराचारी दानवस्वरूप शासकगण स्त्रियों के क्रीड़ा

कला के लोलुप हो गये हैं, धन सम्पन्न लोग परनारीप्रीतिपरायण, परद्रव्यापहारी एवं विहरणरसिक हो गये हैं क्षत्रिय वर्ग काम क्रोध लोभी मोह और मद से आविष्ट हैं प्रायः मनुष्य वर्ग हर समय स्वार्थ और अर्थ साधन में लगा हुआ है दिन प्रतिदिन अपने पेट रूपी गुफा को पूर्ण करने में भक्ष्याभक्ष्य के विचार से शून्य है हर समय आमोद, प्रमोद, उन्माद, मधुर मोहमदिरापान आदि से हिताहितविवेक विस्मृत हो गया है । अहन्ता और ममता के धारण करने से तज्जन्य बेड़ी से समस्त व्यवहार, क्रियाकलापों के आबद्ध होने से क्लेश की वृद्धि हो रही है ।

परस्पर में द्वेष फैला हुआ है दूषित अन्तःकरण और कुटिलता के कारण सगे सम्बन्धियों बन्धु बान्धवों में परस्पर में अन्ध व्यवहार हो गया है, अहंकार महामोह के कारण सब उद्धत हो गये हैं, स्व पर भेद भावना से युक्त होने के कारण एक दूसरे के उत्कर्ष को न सह सकने के कारण एक दूसरे के प्रति सद्भाव समाप्त हो गये हैं क्षुद्र भावना से अभिभूत 'रागद्वेष के कारण उत्पन्न निरर्थक युद्ध रूपी अग्नि में सम्पूर्ण वैभव और पौरुष की आहुति करते हैं सम्पूर्ण भारतीय ज्ञान में प्रधान होने पर भी कालचक्र में पड़े हुए है ऐसी स्थिति में आवश्यकता है किसी ऐसे महामानव की, जो सर्वथा निज स्वार्थ को छोड़कर केवल लोक कल्याण के लिए निज जननी और जन्मभूमि की निष्काम सेवा के लिए मोहरूपी महागर्त में गिरे हुए जिज्ञासुओं के समुद्धार करने के लिए उपाय प्रकार को जानता हो ।

क्योंकि वर्तमान की भारतीय जनता पथ से भ्रष्ट है अपने स्वरूप को भूल गयी है, निज परम्परागत संस्कृति सदाचार वैभव और गौरव से विमुख है, धैर्यहीन और दीन हैं उत्तरोत्तर क्षीण हो रही है अस्त्र शस्त्र के उठाने और चलाने में असमर्थ है सर्वात्म भाव से विदेशी विधर्मिविलास भावना में प्रवीण है सदादर्श से हीन है यह बहुत दुःख की बात है किं बहुना समझाने पर भी यह असावधानी से छोड़े गये अपने लक्ष्य को पुनः प्राप्त करने के लिए प्रमत्त की तरह प्रयास नहीं करती, पंगु की तरह कदम आगे नहीं बढ़ाना चाहती है, पुरुषार्थ में बुद्धि नहीं लगाती है, सन्मार्ग में प्रेम नहीं करती है, महापुरुषों के सच्चरित्रों का अनुकरण नहीं करती है, शास्त्र प्रवचनों का अनुसरण नहीं स्वीकार करती है, सन्मार्ग में प्रवृत्ति को नहीं स्वीकार करती है, दुष्टों के संग को नहीं छोड़ती है वैदेशिक विलासिता के साथ विहार को नहीं छोड़ती है ।

इसलिए पदे पदे मान और अपमान को सहती है परिस्थितिवशात् प्रत्येक क्षण मानसिक क्लेश को प्राप्त हो रही है दुर्दशाग्रस्त होने के कारण अनेक प्रकार के देश और कालजन्य दुःखों का अनुभव करती है पारस्परिक वैमनस्य रूप विषदग्ध प्राण जनता परस्पर में व्यर्थ में युद्ध करती है असहयोग की अग्नि में जले हृदयवाण निष्प्राण की तरह जनता संकट के समय में भी एक दूसरे का सहयोग और संरक्षण नहीं करती है भारत की इस असहायजनता को कामिनी की तरह विवश देखकर लुटेरे लोग वैदेशिक डाकू शीघ्र आक्रमण करके यथेच्छ उपभोग करते हुए समाक्रान्त परवशस्त्री की तरह करके स्वामी की तरह शासन करते हैं । यही कारण है कि इस समय यवनों से आक्रान्त, दुष्ट दुश्शासन से अपहृत सकललज्जाभरण, विवस्त्रा द्रोपदी की तरह दुःखी होती हुई अपने रक्षक, जगन्नियन्ता विश्वभर्त्ता को पुकार रही है कि हे भक्तवत्सल भगवन् ! अपने प्रतिनिधिभूत, क्षत से रक्षा करने वाले किसी क्षत्रियकुलभूषण, जननेता, विघातकशत्रुकुल को जीतने वाले, दुष्टदुर्जन दुःशासन यवन कुल के कदन से रक्षा करने वाले संत्रस्त जनता की संरक्षा के लिए किसी को प्रकट करें "इसीलिए यह इस समय मेरा सामयिक परमावश्यक एवं सम्यक् पालने योग्य समुपदेश है" उठो, जागो और अपने श्रेष्ठ कर्मों में लगाओ" और बुद्धिमान् पुरुष परस्पर मिलकर शत्रु का उन्मूलन करे, धन और प्राण को समर्पित करके भी धर्म की रक्षा करे ।।१।। विशेष करके सती नारियों की सुरक्षा करे, जिससे वर्ण संकरता न हो और न ही धर्म का नाश हो ।।२।। ऐहिक और पारलौकिक अर्थ को देने वाली, विश्वधर्म को बढ़ाने वाली भारतीय संस्कृति की सम्यक् प्रकार से रक्षा करे वह दूषित न होने पावे ।।३।। कन्धे से कन्धे मिलाकर हृदय से हृदय मिलाकर, स्नेह और सौहार्द भाव से, निश्छल व्यवहार से धर्म, विशेषकरके कुल स्त्रियों के शील, स्वाभिमान, मर्यादा, संस्कृति, धर्मग्रन्थनिधि स्वशास्त्रों की रक्षा के लिए सब लोग एक हो जाये बद्ध परिकर और सन्नद्ध हो जायँ ।

सभी लोग विजयोत्कर्ष प्रहर्षोल्लास भाजन हों, दुर्जन ग्राह संग्रस्त और त्रासन कर्म से त्रस्त मातृभूमि और अपनी जननी की महान् भय से रक्षा करें ।। सभी प्रयत्नों से निज धर्म का पालन करें ।।" क्योंकि रक्षित धर्म ही हमारी रक्षा करता है और विनष्ट धर्म मारता है धारण करने से ही धर्म कहा जाता है क्योंकि सम्पूर्णजगत् को धर्म धारण करता है ।

किञ्च-धर्म धारण करने के कारण ही मनुष्य पशु से भिन्न है अन्यथा सभी कर्मों में मनुष्य पशु के तुल्य है। कहा भी गया है- भोजन, शयन, भय और मैथुन ये सब पशु और मनुष्य में समान है पशुओं की अपेक्षा मनुष्य में धर्म ही एक विशेष है जो धर्म से हीन मनुष्य हे वह पशु ही है। तथा च-धर्म ही बल प्रदान करता है ओज देता है मान, प्रतिष्ठा, सत्ख्याति और स्वात्म शान्ति को प्रदान करता है। मनुष्यों के द्वारा संरक्षित, वर्द्धित, गौरवान्वित, समृद्ध धर्म सर्वदा अपने आधार धर्म धारक की रक्षा करता है। वीर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, उत्साह, विवेक, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, तपः, शौच, दया, क्षमा और ब्रह्मचर्यादि सद्गुणों को क्षणभर में प्रकट करता है। श्रद्धापूर्वक धारण करने पर धर्म हर क्षण सभी कामनाओं को पूर्ण करता है।

''धर्मो हि विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,

लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।

धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्।''

तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति।'' इति।

''धर्मेणैव जगत् सुरक्षितमिदं धर्मो धराधारकः।

धर्माद्वस्तु न किञ्चिदस्तिभुवने धर्माय तस्मै नमः॥ इति।

नमनमेव धर्माय।

शास्त्रों में कहा गया है कि धर्म ही सम्पूर्णजगत् का आधार है, लोक में धर्मात्मा के समीप ही लोग जाते हैं, धर्म से पाप नष्ट होता है, धर्म में ही सब कुछ टिका हुआ है इसीलिए धर्म को सर्वोत्कृष्ट कहते हैं। यह जगत् धर्म से ही सुरक्षित है धर्म ही पृथिवी को धारण करने वाला है संसार में धर्म से श्रेष्ठ कोई वस्तु नहीं है ऐसे धर्म को नमस्कार है।

''यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।''

किञ्च-

''उन्नतिं निखिला जीवाः धर्मेणैव क्रमादिह।

विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परंपदम्।''

'धर्मादर्थः प्रभवति, सुखंधर्मात्प्रजायते।

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।''

''मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥
धर्मनाम्नीह भगवतोऽमोघाशक्तिः,
या हि चराचरं जगद्धारयति ।
''न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः, रक्षन्ति स्म परस्परम् ।''

इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में भी कहा गया है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं और भी सावधानीपूर्वक धर्म करने वाले सभी लोग क्रमशः धर्म से ही उन्नति और अन्त में परमपद को प्राप्त करते हैं । धर्म से अर्थ प्रकट होता है धर्म से सुख उत्पन्न होता है धर्म से सब कुछ प्राप्त होता है इस जगत् का सार धर्म है (महाभारत) परायी स्त्रियों को माता के समान, पराये धन को मिट्टी के समान, सभी प्राणियों को जो अपने जैसा मानता है वही पण्डित है । इस संसार में भगवान् की अमोघशक्ति है जो चराचर जगत् को धारण करती है । आकाश में सूर्य और चन्द्रमा अपनी-अपनी मर्यादा में स्थित हैं सम्पूर्ण ग्रह नक्षत्र भी यथाक्रम से परिक्रमण करते हैं स्वधर्मपालन में सुस्थिर ध्रुव की । धर्म मर्यादा से ही यह पृथिवी स्थिर है धर्म से ही मर्यादित समुद्र अपने तट का परित्याग नहीं करते हैं, जो धर्म में बंधे होते हैं वे स्वधर्ममर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते हैं किं बहुना- पञ्चमहाभूत भी स्व स्वधर्म में निबद्ध होकर भगवदाज्ञा का पालन करते हैं और जगत् में प्राणियों का पालन करते हैं मनुष्यों के ऐहिक और पारलौकिक लोक की प्राप्ति कराने वाला धर्म ही है वही सन्मार्ग दिखाने वाला है दुःख का नाश करने वाला है संसार सागर से उद्धार करने वाला है और सम्पूर्ण सम्पत्तियों को देने वाला है । धर्म ही प्राणियों को दुःख सागर से निकालकर अनन्त सौख्य कल्पद्रुम की छाया प्रदान करता है और अज्ञानान्धकार से आवृत्त अन्तःकरण में विज्ञान ज्ञान की ज्योति प्रकाशित करता है । कभी ऐसा भी समय था जब न कोई राज्य था, न राजा था न दण्ड था न शासक था सारी प्रजा आपस में धर्म से एक दूसरे की रक्षा करती थी । भारत में कभी ऐसी व्यवस्था थी । अर्थात् धर्म ही सत्पथ का प्रदर्शक था सत्य ही सहचर था । वही दुःखसागर से पार करता था और

अपने से सम्बद्धों तारता था किन्तु इस समय के भारतवर्ष में पूर्ववत् राजाओं के विद्यमान होने पर भी नहीं दिखायी देता है कहीं भारत में सुखद श्रेय साम्राज्य । कहीं शान्ति का अनुभव नहीं हो रहा है, मंगलमय आलाप कहीं नहीं सुनायी देता है, नहीं दीखता है कहीं भी सरस और सुभग मानसिक उल्लास । किसी में हर्ष प्रकर्ष नहीं दीखता है । दिखायी दे भी कैसे ? सम्पूर्ण सुलभ सौख्य साधन, भगवद्भक्तिपरिपूत, सुभग-सुभग सदाचार सम्भूत, समस्त शर्म भर्म सम्भृत सत्कर्म से जन्य धर्म ही सुकृति का मूल है वही जब निर्मूल जैसा हो गया है तब सुख और शान्ति की स्थिति कैसे होगी ?

यद्यपि यहाँ कुछ अज्ञानी, भ्रान्त, भ्रान्त-अन्ध परम्परा के अनुयायी, मानो उनके ऊपर भूत सवार हो गया हो, ऐसे कुछ भाई ऐसा प्रलाप करते हैं कि इस समय के संसार में धर्म ही सम्पूर्ण दु:ख का कारण है पारस्परिक भेदभावना का उद्भावक है वर्तमान समय के अनुरूप धर्म उपयुक्त नहीं है अत: धर्म का त्याग कर देना चाहिए जब तक धर्म निर्मूल नहीं होगा तब तक उद्धार नहीं होगा, न ही स्नेह सद्भावना का प्रचार होगा और नही परस्पर ऐक्यभावना का व्यवहार प्रचलित होगा इति । परन्तु ऐसा नहीं है ये सब अज्ञानी लोग है अनेक दूषितभावना से युक्त अन्त:करण वाले हैं शास्त्रीय ज्ञान विमुख प्रवृत्ति वाले हैं सर्वथा अविवेकयुक्त वाग् व्यापार वाले हैं ऐसे लोग ही ऐसी बात करते हैं वे धर्मतत्त्व को नहीं जानते हैं और न ही विचार करते हैं अपने अभिलषित वस्तु तत्व के कारणों का । और न ही पारस्परिक स्नेह सद्भाव से उद्भावित ऐक्य भावना के प्रसारण में बाधक बीजों को ढूंढते हैं यदि क्षण भर अपनी मनोभावना को सुस्थिर के निष्पक्ष विवेचनी प्रतिभा को आगे करके वे विचार करें तो वे अवश्य जान जायेंगे उस बाधक तत्त्व को । अर्थात् उस कर्म में बाधक तत्त्व कौन-कौन हैं ? इति ।

भावनाभावित अन्त:करण वाले अवश्य जानते होंगे, कि धर्म किसी का बाधक नहीं होता है आपके अनुरूप भावना के बाधक तो ये हैं पारस्परिक द्वेषभावना, मिथ्याहंकार, शास्त्र की अज्ञानता, असूया, सर्वदा अपने स्वार्थ साधन परायणता, काम और लिप्सादि । इन्हीं कारणों से सर्वदा परस्पर युद्ध, आक्रमण, व्यर्थ ही भूमि पर रक्तपात आदि होते हैं भारत के इतिहास इसके साक्षी हैं ।

व्यर्थ में ही लोग धर्म को कलंकित करते हैं सभ्य महानुभावों ! आप सब सबसे पहले धर्म के स्वरूप और लक्षण पर विचार करें उसके बाद धर्म पर लाञ्छन लगावें ।

''धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षण'' -मिति ।।

धर्म का लक्षण यह है- धैर्य, क्षमा, मनोनिग्रहरूपदम, पवित्रता, चक्षुरादि-इन्द्रियों का निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध, ये दस धर्म के लक्षण हैं इनमें कोई ऐसा गुण नहीं है जो मानव जाति के समुन्नति अथवा शान्ति का बाधक हो अपितु उक्त दस लक्षणों का अनुसरण करने वाले मानव के लिए सम्पूर्ण पृथिवी स्वदेश हो सकता है सभी देशों में रहने वाले लोग ही अपने भाई हो जायेंगे (सभी मनुष्य भाई और सम्पूर्ण त्रिलोकी अपना देश) ।

कुछ मानवों की ऐसी मान्यता है कि एक ही जगह अनेक धर्मों की स्थिति ही पारस्परिक द्वेष भावना को जन्म देती है और द्वेषमूलक संघर्ष का पोषण करती है किन्तु यह भी उनका भ्रम ही है, धर्म अनेक हो सकते हैं वस्तुत धर्म तो एक ही है । सभी प्रचलित सम्प्रदायों में जो अनेकता दिखती है वह नाम मात्र है संज्ञा भेद है वास्तव में भेद नहीं है क्योंकि सभी सम्प्रदायों और मतों का प्राप्य वस्तु परम तत्व और गन्तव्य स्थान परम पुरुषार्थ एक ही है किन्तु उसके प्राप्ति के मार्ग और प्रकार भिन्न-भिन्न है यथा वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध और जैन अथवा अन्य कोई भी क्यों न हो ? केवल नाम भेद से ही अलग प्रतीत होता है लक्ष्य तो सबका एक ही है उनमें जो विवाद के कारण आक्षेप, प्रत्याक्षेप होता है वह तो वाग्वैदुष्य, विवेचन और तर्क शक्ति को बढ़ाने के लिए होता है,

''धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत् ।

अविरोधी तु यो धर्मः स धर्मो मुनिपुङ्गव ।।'' (महाभारते-)

महाभारत में धर्म का स्वरूप प्रतिपादित है- जो धर्म में बाधा उपस्थित करता है वह धर्म नहीं कुधर्म है हे मुनिश्रेष्ठ ! जो धर्म का अविरोधी होता है वही धर्म है' ।

अत: सिद्ध होता है कि धर्म से किसी की हानि नहीं होती है न ही धर्म दु:ख का कारण है । धर्म भेदभावना का उद्दीपन नहीं करता है धर्म किसी के ऊपर आक्रमण करने वाली नीति की शिक्षा नहीं देता है बल्कि इस भावना को दृढ़ करता है- किसी को उद्विग्न मत करो, न सुनाने योग्य को न सुनावे । किसी के धन की चाहना न करो । और भी सत्य बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो, और परायी स्त्रियों में मातृभाव, पराये धन में लोष्ठभाव, सभी प्राणियों में आत्मभाव और सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्मभाव से देखें । ऐसा उपदेश धर्म करता है ।

बल्कि धर्म के त्याग से ही सर्वत्र उपप्लव होता है, धर्म के त्यागने से ही दुर्भावना दुराचार प्रवृत्ति और कर्त्तव्य विमुखता बढ़ती है एक दूसरे के ऊपर आक्रमण, परकीय धनदारापहरणादि अनेक क्रियाकलाप प्रवृत्त होते हैं और बढ़ते हैं ।

इसी प्रकार कुछ लोग विदेशियों के विरुद्धाचरण का अनुसरण करने वाले, सर्वथा परम्परा और सनातन धर्म मर्यादा का त्याग करने वाले, स्वच्छन्द-आचार-आहार और उपहार वाले, पृथिवी के भारभूत स्वेच्छा से विहार करते हैं । सितांशु शुभ्र परम्परा से आगत स्व स्व कुल मर्यादा को कलुषित करते हैं राक्षसी प्रवृत्ति के लोग कभी भी कुकृत्य करने में लज्जा नहीं करते हैं वे निर्लज्ज होकर कहते हैं कि-

> **''नानुजा तनुजा क्वापि न स्वसा न स्नुषा क्वचित् ।**
> **नाऽगोत्र-गोत्रजा श्यालभामा वा श्यालभद्रिका ॥**
> **कामिन्यो हि समस्ताः कामकेलि-प्रसाधिकाः ।**
> **यथा पाशवदेशेषु प्रवर्तन्ते जनाः पुरा ॥**
> **तथा भारतवर्षेऽस्मिन् वाञ्छन्ति पशुवृत्तयः ।''**
> **मन्यन्ते शास्त्रमर्यादां नैव स्वीयपरम्पराम् ॥**
> **न धर्मबन्धनं नैजां व्याहतिं च कुलक्रमाम् ।**
> **साम्प्रतं दानवायन्ते मानवा मानवाऽर्दनाः ॥**
> **अतो जनार्दनस्तेषामशेषां शोधयेन्मतिम् ।**
> **ततः संस्कृतिरक्षा स्याद् भारते भव्यभारते । इति ।**

न कोई स्त्री छोटी बहन है, न कोई बेटी है, न कोई बड़ी बहन है, न कोई पुत्रवधू है न कोई अगोत्रा है न कोई गोत्रजा है न कोई श्यालभामा (साले की पत्नी) है न कोई श्यालभद्रिका (साली) है । सभी स्त्रियाँ कामक्रीड़ा में सहायक है जैसे पाशविक देशों में लोग स्त्रियों में प्रवृत्त होते हैं वैसे ही इस भारत में पशुवृत्ति चाहते हैं वे लोग शास्त्र मर्यादा स्वीय परम्परा, धर्म बन्धन, कुलक्रम से हो रहे व्यवहार आदि को नहीं मानते हैं । मानवों को दुःखी करने वाले मानव साक्षात् दानव हो गये हैं इसलिए भगवान् जनार्दन उनकी सम्पूर्णमति को शुद्ध करें तभी संस्कृति की रक्षा भव्य भारत में हो सकती है ।

इस प्रकार दुर्विनीत और निन्दित धारणा को धारण करने वाले धनान्ध, इस समय अनन्त लोग हैं । राजलक्ष्मी मद से उन्मत्त विलासी शासक मनमाना कामक्रीड़ा करते हैं वे गुरुजनों से उच्चरित गुणिगण के उपयुक्त, सप्रयुक्त, गुण गम्भीर और धीरवाणी की परवाह नहीं करते हैं वे श्रेष्ठकुल समुत्पन्न मान मर्यादा को नहीं मानते हैं वे मोहग्रस्त बुद्धि वाले लोग अपनी भारतीय वैदिक विज्ञान पद्धति को नहीं जानते हैं वे स्वेच्छाचार व्यभिचार प्रसार के दुष्परिणाम को नहीं सोचते हैं, वे शास्त्रीय विधान को नहीं जानते हैं ये लोग विज्ञान बहुल सामाजिक सुस्थिर सुव्यवस्था को नहीं जानना चाहते हैं, ये लोग प्रचारित व्यभिचार के दुष्परिणाम को देखते हुए भी नहीं देखते हैं । सम्पूर्ण परिजनों के इस दुष्कर्म में प्रवृत्त होने पर सबसे पहले कुलस्त्रियाँ दूषित होंगी, स्त्रियों के दूषित होने पर सम्पूर्ण कुल ही दूषित हो जायेगा । गीता में कहा है-

"स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ।
सङ्करो नरकायैव, कुलघ्नानां कुलस्य च ॥

अर्थात् स्त्रियों के दूषित होने पर उस कुल के पूर्वज पितर भी नरक में गिरते हैं उन दूषितों से कुल में उत्पन्न पुत्र पौत्रादि से प्रदत्त तर्पणजलादिक पिण्डदानादि को उनके पितर नहीं प्राप्त करेंगे क्योंकि पिण्डदाता उनके कुल में उत्पन्न वर्णसंकर है उनका अंश नहीं है वह तो किसी अन्य का अंश है अतः तद्दत्त पिण्ड तिलसंयुक्त जल उनके पितरों के समीप सोम-सूर्य-अग्नि के द्वारा पहुँचाये जाने पर भी अन्य अंश से दत्त होने के कारण हेय होने के

कारण उनके पितर नहीं पाते हैं जिसका वह अंश है पिण्डदाता, उसके नामनिर्देश के बिना वह नहीं पा सकेगा अत: वर्णसंकर के द्वारा दिया गया सब निष्फल होगा न उसके पितर पायेंगे और न ही कुलघाती के पितर, अत: दोनों कुल का उच्छेद होगा ।

यदि यह कहें कि व्यभिचार से प्रसक्त वर्ण संकर के हाथ से दिया गया पिण्डादि पितर क्यों नहीं ग्रहण करते हैं इसका क्या कारण है ? तो सुनें ।

स्वर्ग में रहने वाले हमारे पितर सामान्यजीव अथवा अल्पज्ञ नहीं है हम लोगों के स्वभाव जैसे स्वभाव वाले नहीं हैं जो जिस किसी के नाम से दिया गया, जिस किसी के अंश से उत्पन्न से प्रदत्त पिण्डादि को ग्रहण करेंगे । क्योंकि देने वाले में उनका स्वल्प अंश भी नहीं है । जिस आदमी में पितरों का अंश होता है उसी के हाथ से दिया गया अथवा स्वनाम निर्देशपूर्वक दिया गया यत्किञ्चिद् जलादि पिण्डादि, उसी को वे ग्रहण करते हैं दूसरे के हाथ से नहीं । अत: सबसे पहले अंश क्रम का ज्ञान आवश्यक है उसी का निर्देश करते हैं ।

यह नियम है जब कोई पुरुष जन्म लेता है तब वह अपने पूर्वजों अथवा पूर्वजन्मानुशयों के साथ ही निजशुक्र में ८४ अंशों के साथ ही जन्म लेता है । उनमें वह २८ अंशों को तो अपना ही ले आता है शेष ५६ अंशों में २९ अंश तो अपने पिता के होते हैं, १५ अंश पितामह का, १० अंश प्रपितामह का, एवं छ अंश वृद्धप्रपितामह का, ३ अंश वृद्धतरप्रपितामहका और १ अंश वृद्धतमप्रपितामह का अंश होता है । इस प्रकार स्वकीयवीर्य में अपने साथ ही ६ पूर्वजों का एवं सातवाँ अपना, इस प्रकार सप्तपुरुषों के अंश समूह स्वकीय शुक्र को अपनी भार्या में ही उपयोग करना चाहिए अन्य किसी भी स्त्री में नहीं । अत: वह अपने साथ ही सप्तपुरुषों के अंशमय शुक्र को अन्यत्र किसी भी योनि में न गिरावे, उनका गिराना नरक भोग के योग्य बनाना है, स्वर्गस्थ पितर नरकगामी न हों अत: सावधान रहना चाहिए । इसी प्रकार आगे उत्पन्न होने वाली सन्तानों में अपने पुत्रों में २१ अंश उसके वीर्य में रहते हैं तत: पौत्र में १५, प्रपौत्र में १०, तत्पुत्र में ६, तत्पुत्र में ३, तत्पुत्र में १ एक ही अंश होगा इस प्रकार सात पूर्व में सात अवरों में पुरुष का शुक्र सम्बन्ध होता है अत: जिसमें जिसके अंश का सम्बन्ध होता है उसी के द्वारा

दिया गया जलादि उनके पिता-पितामहादि के समीप में सूर्य, अग्नि, सोम, वायु आदि सद्यः ले जाते हैं और तत्तन्नामनिर्देशपूर्वक दिये गये तिल जल पिण्ड, तत् श्राद्ध में प्रयुक्त अन्नादि को देते हैं पितर भी स्वस्वस्थान में स्थित होकर ग्रहण करते हैं प्रसन्न होते हैं शुभाशीर्वाद के द्वारा अपनी सन्तति, का अभिनन्दन करते हैं प्रसन्न रखते हैं ।

यदि इस वीर्यांश क्रम में किसी प्रकार से व्युत्क्रम होता है तब समस्त १४ पुरुष व्याप्त शुक्र सम्बन्ध चक्र अस्त-व्यस्त एवं विच्छिन्न हो जाता है उनमें आदान प्रदान क्रम व्याघात हो जाता है इसलिए लुप्तपिण्डोदक क्रिया वाले सभी पूर्व पुरुष अथवा भावी पुरुष पौत्रादि लुप्त धर्म स्वस्व परम्परामर्यादा से शून्य होंगे ही, उनमें कहीं भी पूर्व पुरुषों का और पर पुरुषों का सम्बन्ध स्थिर नहीं होगा, इसी क्रम को ध्यान में रखकर वेद में कहा गया है यह पिण्ड साप्तपौरुषिक है ।

इसीलिए निजशुक्रांश का सप्तपुरुष पर्यन्त सम्बन्ध होने से ही जननाशौच, मरणाशौच आदि प्रवृत्त होते हैं उसके बाद सम्बन्ध न होने से अशौच नहीं होगा ।

इस प्रकार के क्रम को लक्ष्य करके विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि अपने वीर्य में केवल हमारा ही अधिकार नहीं है अपितु अपने पूर्व पुरुषों की भी सम्पत्ति इसमें निहित है इसीलिए तत्संस्कारानुशययुक्त ही बालक उत्पन्न होता है और वह उसी प्रकार अपने पूर्व पुरुषों का अनुकरण करता है अपने पूर्व पुरुषों के गुण स्वतः ही उस बालक में प्रकट होते हैं इसीलिये 'यह बालक संस्कारी है' ऐसा लोग कहते हैं । अतः मनुष्य को अपने वीर्य का यत्र तत्र असतस्थल में उपयोग नहीं करना चाहिए और न दुरुपयोग करना चाहिए । विवेक शून्य पुरुष ही उस प्रकार का दुष्कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं वे स्वयं तो अन्धकूप में गिरते ही हैं किन्तु अपने पूर्व पुरुषों को भी अन्धकूप में गिराते हैं अतः हम भारतीयों की भारतीया संस्कृति सर्वांश में ज्ञान विज्ञान से युक्त है कभी भी प्रमादवश अथवा मूर्खतावश त्यागने योग्य नहीं है अतः हम लोगों को न ही कभी भी विज्ञान शून्य प्रमादी स्वेच्छाचारी से सम्पर्क नहीं करना चाहिए । उनकी पद्धति का भी कभी भी अवलोकन अथवा अनुकरण नहीं करना चाहिए, भारतीय तभी भारतीय कहा जा सकता है जब वे भारतीय संस्कृति का अनुसरण करेंगे ।

अत: मैं इस समय उन्हीं धर्मप्राण, विशुद्ध भारतीय वंश में समुत्पन्न वस्तुत: भारतीयों को बार बार सम्बोधित करके कहता हूँ कि जिनके शिर के ऊपर मातृभूमि भारत का और भारतीय संस्कृति का संरक्षणात्मक भार परम्परा से ही आ रहा है और जो वर्तमान के मायामोहमय समय में सम्यक् प्रभाव में पड़कर तन्द्रा प्रमाद और आलस्ययुक्त है विलासी हो गये हैं उन धर्म धुरन्धरों के कल्याण के लिए ही मेरा यह उद्बोधन है कि वे इस समय जागरूक होकर पूज्य आप सभी क्षत्रियकुलभूषण जैसे तैसे आया हुआ पारस्परिक वैमनस्य अथवा वैषम्य को भावुक भावनामय या असहयोग को निकालकर सस्नेह एक लक्ष्यात्मक सूत्र में निबद्ध होकर आप सब इस समय वैदेशिक विरुद्ध धर्मावलम्बियों से समाक्रान्त, समुद्भ्रान्त, त्रस्त, सम्यक् ग्रस्त भारतीय निजजन्मभूमि को दुष्टदु:शासन के हाथ से छीनकर स्वतंत्र बनाकर भारतीय संस्कृति की रक्षा करें । इस प्रकार प्रवचन को सुनकर सभी लोगों ने स्वामीजी की पूजा किया ।